हिन्दी और देवनागरी

सम्पादक

श्रीनारायण चतुर्वेदी

हिन्दी और देवनागरी

तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर हिन्दी और देवनागरी सम्बंधित
कुछ ऐतिहासिक और महत्वपूर्ण लेखों और अभिलेखों का संकलन

श्रीनारायण चतुर्वेदी
संकलनकर्ता, सम्पादक और प्रकाशक

कार्तिक २०४० वि०
(२८, २९, ३० अक्टूबर १९८३ ई०)

५३, खुर्शेदबाग,
लखनऊ–२२६ ००४

प्रथम संस्करण २,०००

मुद्रक–हिन्दुस्तानी आर्ट कॉटेज, लखनऊ—२२६ ०१८

निवेदन

मैं विश्व हिन्दी सम्मेलन से आरम्भ ही से संबंधित हूँ और उसमें रुचि लेता हूँ। नागपुर अधिवेशन में मैंने एक गोष्ठी के अध्यक्ष मण्डल में सदस्यता भी ग्रहण की थी। यद्यपि द्वितीय सम्मेलन में मुझे भारत सरकार ने अपने प्रतिनिधि मण्डल में सम्मिलित नहीं किया तथापि मारीशस की सरकार ने मुझे किसी अज्ञात प्रेरणावश वड़ी उदारतापूर्वक अपने राजकीय अतिथि के रूप में निमन्त्रित किया था। अब मैं ९१वें वर्ष में हूँ और मेरा यह परम सौभाग्य है कि मैं उसके तृतीय अधिवेशन में भी सम्मिलित हो रहा हूँ। इस अवसर पर मैं इस सम्मेलन के प्रथम प्रधान मंत्री और अपने आदरणीय मित्र स्वर्गीय श्री शेवड़े की पुण्य स्मृति में तथा द्वितीय सम्मेलन को सफल बनाने वाले महाराज डॉ० कर्णसिंह जी और मारिशस के श्री दयानन्द वसन्त राव जी के प्रति श्रद्धा और कृतज्ञता से नत हूँ।

अपने जीवन में मैंने अपने ही देश में उपेक्षित हिन्दी के सफल आन्दोलन को भारतेन्दु के बाद के प्रयत्नों के युग से देखा है। मैंने वे दिन देखे हैं जब नगरों के स्कूलों में भी शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था। मैट्रिक में हिन्दी केवल वैकल्पिक विषय था। एम० ए० की कौन कहे, इण्टर में भी हिन्दी नहीं पढ़ायी जाती थी। अदालतों में हिन्दी भाषा के प्रयोग करने का प्रश्न ही नहीं था, देवनागरी लिपि का उपयोग भी वर्जित था। भारतेन्दु के दर्शन का सौभाग्य तो मुझे नहीं मिला, किन्तु महामना मालवीय जी, राजा रामपाल सिंह, बाबू श्यामसुन्दर दास, राजर्षि टण्डन आदि महापुरुषों ने हिन्दी को उसका जन्मसिद्ध अधिकार दिलाने के जो महान प्रयत्न किये, उनका मैं साक्षी रहा हूँ। बाद में मैंने भी उसमें अपना अल्प योगदान दिया। मैंने नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, एकलिपि विस्तार परिषद्, दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन, विश्व हिन्दी सम्मेलन, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार सभा आदि संस्थाओं का संगठन और उत्थान देखा। एकलिपि विस्तार परिषद्

तो अल्पजीवी रही, प्रयाग का सम्मेलन भी आज श्रीहीन और महत्व-हीन हो गया है, किन्तु दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, और दिल्ली साहित्य सम्मेलन तथा वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार सभा अत्यन्त स्तुत्य कार्य करते हुए आज भी सक्षम हैं। विश्व हिन्दी सम्मेलन की अपूर्व और महत्वपूर्ण कल्पना राष्ट्रभाषा प्रचार सभा, वर्धा की थी और उसे आप देख ही रहे हैं। उसने संसार में बिखरे हुए हिन्दी-भाषियों और हिन्दी-प्रेमियों पर जो प्रभाव डाला है, वह विश्व-व्यापी हिन्दी आन्दोलन का श्रीगणेश मात्र है। बीज बो दिया गया है, वह अंकुरित भी हो गया है। संसार के इतने देशों के प्रतिनिधि उसमें पधारे हैं। इसमें न आ सकने वाले विशाल हिन्दी-प्रेमियों की संख्या का अनुमान करना भी कठिन है। अंग्रेजी की एक कहावत है कि रोम एक दिन में नहीं बना। "शनैः कन्था, शनैः पन्था, शनैः पर्वत-लंघनेः।" किन्तु मुझे विश्वास है कि इसके उत्साही अधिकारियों और कार्यकर्ताओं के अदम्य साहस, उत्साह और कर्मठता तथा कार्यकुशलता के कारण यह एक दिन विशाल वटवृक्ष का रूप ले लेगा।

हिन्दी आन्दोलन का औपचारिक आरम्भ मैं १८८० से मानता हूँ। उसके दशकों पूर्व राजा शिवप्रसाद और भारतेन्दु ने उसका सूत्रपात कर दिया था। प्रातःस्मरणीय स्वामी दयानन्द जी ने "आर्यभाषा" के रूप में उसका प्रचार पंजाब व पश्चिमी उत्तर प्रदेश में आरम्भ कर दिया था। किन्तु मैं उसका औपचारिक आरम्भ भारतेन्दु के १८८० में दिये गये उस पद्यात्मक भाषण से मानता हूँ जिसका पहला दोहा 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल, बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल' था। यह दोहा हिन्दी आन्दोलन का मूल मंत्र, प्रेरक नारा और हिन्दी जनता का कण्ठहार बन गया। देखा जाय तो राष्ट्र के जीवन में सौ वर्ष बहुत बड़ी अवधि नहीं है। किन्तु हमारे दूरदर्शी, तपस्वी नेताओं और हिन्दी-प्रेमियों के अपार उत्साह से इस एक शती में हिन्दी ने जो उन्नति की है, और उसका जो प्रचार हुआ है वह आश्चर्यजनक ही नहीं, हमारे लिए गौरव का विषय है। आज हिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी को सम्मानजनक स्थान प्राप्त है। यही नहीं, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के

वाद सारे भारत के दूरदर्शी नेताओं ने देश को एक सूत्र में बाँधने तथा स्वतंत्र राष्ट्र को उसकी वाणी देने के लिए स्वतंत्र भारत के संविधान में देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी को भारत की 'राजभाषा' स्वीकार कर लिया। राष्ट्रभाषा तो वह पहले ही से थी क्योंकि किसी न किसी रूप में वह अनेक शतियों से देश के प्रत्येक भाग में समझी जाती थी। मध्ययुग में कितने ही अहिन्दीभाषी क्षेत्रों के सन्तों, महात्माओं और कवियों ने उसमें कविताएँ रची थीं, पद लिखे थे। उत्तरापथ से दक्षिणापथ जानेवाले बंजारे और व्यापारी, चारों धाम और सप्त पुरियों, अमरनाथ, पशुपतिनाथ से कन्याकुमारी एवं कामाख्या, परशुराम कुण्ड, जगन्नाथपुरी से सोमनाथ और द्वारकापुरी तक भ्रमणशील संतों और तीर्थयात्रियों ने इसी भाषा के द्वारा अपना काम चलाया और उसका सारे देश में प्रचार किया। वे भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से भी उनकी भाषाओं के कुछ शब्द लाये और उन्हें हिन्दी में सम्मिलित कर उन्होंने उसका भण्डार बढ़ाया। आज हमारा प्रभाव-क्षेत्र सारा संसार है। स्वामी विवेकानन्द ने विदेशों में हिन्दू संस्कृति के परिचय तथा प्रचार का जो अभियान आरम्भ किया था, उसने व्यापक रूप ले लिया है। अनेक देशों में 'योग' के नाम से हमारी संस्कृति का प्रचार करने वाले 'स्वामी' और प्रचारक फैल गये हैं। 'हरे कृष्ण' आन्दोलन अमरीका, यूरोप और आस्ट्रेलिया में पैर जमा रहा है। यहाँ तक कि हमें यह समाचार पढ़कर आश्चर्य हुआ कि 'लौह पट' के पीछे भी कुछ 'हरे कृष्ण' वाले घुस गये थे। अवश्य ही वे वहाँ से निकाल दिये गये, किन्तु कभी न कभी वह 'लौह पट' वहाँ की सरकार स्वयं ढीला कर देगी। हमारे व्यापारी भी अब संसार के सारे देशों में फैल गये हैं। आर्य समाज के उत्साही प्रचारकों ने समुद्रपार के देशों में उसे फैलाया और दृढ़ किया। मैं जब जापान, शंघाई, हांगकांग, सिंगापुर और पिनांग गया तो वहाँ मेरा काम हिन्दी के द्वारा ही चला। आज की परिवर्तित स्थिति में हमारे भाई यूरोप, अफ्रीका, दक्षिण अमरीका, चीन, जापान, दक्षिण-पूर्वी एशिया, कनाडा तथा अमरीका आदि देशों के कितने ही सुन्दर और उपयुक्त शब्द लावेंगे और हिन्दी को समृद्ध करेंगे। विश्व सम्मेलन को एक विद्वत परिषद् बनाकर उसके द्वारा उन शब्दों को परखकर

उन्हें हिन्दी में आत्मसात् करने की अधिकृत मान्यता देना उचित होगा। नयी हिन्दी में संसार की संस्कृति और भाषाएँ प्रतिबिम्बित होंगी और वह हिन्दी तथा अन्य क्षेत्रों की भाषाओं के शब्दों को स्वीकार और आत्मसात् करके हिन्दी की ऐतिहासिक परम्परा को जीवित रखेगी।

विदेशों में तो अभी हमने हिन्दी प्रचार और उनके शब्दों के आदान-प्रदान की कल्पना ही की है। उसे योजनाबद्ध रूप से करने का श्रीगणेश करना है। जिस प्रकार जापानी शब्द 'हाराकीरी' आज बहुत से हिन्दीभाषी समझने लगे हैं, उसी प्रकार सजग रहने और प्रयास करने से अनेक विदेशी मूल के शब्द हिन्दी में चल सकते और उसमें आत्मसात् हो सकते हैं।

सामान्य लोगों के लिए जापानी-हिन्दी, चीनी-हिन्दी, थाई-हिन्दी, भाषा (इण्डोनेशिया) -हिन्दी, तुर्की-हिन्दी, ग्रीक-हिन्दी, रूसी-हिन्दी, स्पेनिश-हिन्दी आदि छोटे और कामचलाऊ कोशों का तैयार करना तुरन्त आवश्यक है। बड़े कोश बाद में आवश्यकतानुसार बनते रहेंगे। इसी प्रकार अभी हिन्दी में इन भाषाओं का कामचलाऊ ज्ञान देने के लिए छोटी-छोटी पुस्तकें तैयार करना भी आवश्यक है। इन देखने में छोटे कामों से भविष्य में इन देशों से सम्पर्क स्थापित करने और उसे बढ़ाने तथा वहाँके जिज्ञासुओं को हिन्दी का ज्ञान कराने का मार्ग प्रशस्त होगा। ऐसी अनेक योजनाएँ मेरे मस्तिष्क में आती हैं जो आज "शेखचिल्ली की बातें" मालूम होंगी। किन्तु विश्व हिन्दी सम्मेलन में बड़े-बड़े विद्वान् और अनुभवी तथा ज्ञान-वृद्ध महानुभाव हैं। वे व्यावहारिक भी हैं। यदि विश्व हिन्दी सम्मेलन प्राथमिकता के आधार पर ५ या ७ वर्ष की ऐसी कुछ योजनाएँ बना ले तो वह उसके और हिन्दी के लिए ही नहीं, संसार के लिए लाभदायक होगा। आज के हिंसा, द्वेष, तनाव और भीषण मानव संहारकारी युद्ध की आशंका से त्रस्त जगत में हिन्दी भगवान् बुद्ध, शंकराचार्य, महात्मा गाँधी आदि के संदेश की वाहिका होकर संसार और मानवता की कुछ ठोस सेवा कर सकती है।

भारत में भी अभी हिन्दी के लिए बहुत कुछ करना है। मेरे कितने ही मित्र असंतुष्ट हैं कि जो होना चाहिए वह नहीं हो रहा। मैं उनसे सहमत होते हुए भी निराश नहीं हूँ। भारत में कई शती एक विदेशी भाषा—फारसी—इस देश की राजभाषा थी। अंग्रेजी मुश्किल से डेढ़-दो (और कहीं प्रायः एक ही) शती राजभाषा रही। फारसी तो राजभाषा के रूप में राजस्व विभाग में भी काम आती थी। अतएव वह शासन के उच्च से लेकर निम्नतम स्तर तक पाँच-छः शतियों तक हम पर लदी रही। अंग्रेजी अपेक्षतया उसकी आधी अवधि तक रही, और वह भी निम्न स्तर में नहीं। मेरे वचपन में फारसी भाषा लादने वाले शासकों का अंत प्रायः सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व हो चुका था, किन्तु जनता पर फारसी का इतना रोव था कि मेरे अभिभावकों ने एक मौलवी रखकर मुझे फारसी पढ़वाना आवश्यक समझा। यहाँ यह बतला दूँ कि मेरा परिवार परम आस्तिक संस्कृत पण्डितों का था जिनमें कम-से-कम एक ग्वालियर के तोमर राजा के राजपण्डित थे। इस घटना से मालूम होता है कि विदेशी शासन अपनी भाषा लाद कर प्रजा में, महात्मा जी के शब्दों में, कैसी गहरी "दासत्व की भावना" (स्लेव मेण्टलिटी) पैदा कर देता है। अंग्रेजों के बंधन से तो मुक्त हुए हमें अभी पैंतीस वर्ष ही हुए हैं परन्तु अंग्रेजी ने अधिक योजनावद्ध रूप में हममें 'स्लेव मेण्टलिटी' उत्पन्न की। जव फारसी के प्रभाव और आतंक से मुक्ति पाने में हमें सौ-डेढ़ सौ वर्ष लग गये, तब अंग्रेजी की योजनाबद्ध उत्पन्न की हुई 'स्लेव-मेण्टलिटी' से हम एकदम कैसे मुक्त हो सकते हैं? अंग्रेजों ने एक बात और की। वे इस देश में कितने ही 'ट्रोजन हार्स' छोड़ गये हैं जो हमारे ही भाई हैं। वे उच्च और प्रभावशाली पदों पर हैं। चाहे तथाकथित राष्ट्रीय समाचारपत्र हों, चाहे आकाशवाणी हो, चाहे दूरदर्शन हो या अन्य कोई प्रचार माध्यम (मीडिया) हो, उन सब पर उनका वर्चस्व है। अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी देश में अंग्रेजी चलते रहने का कारण कुछ निहित स्वार्थ के लोग हैं।

जहाँ तक देश की सरकार का प्रश्न है, वहाँ तो सौभाग्य से हमारी प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी हैं जिन्हें हिन्दी से हार्दिक लगाव

है। मैं बराबर कहा करता हूँ और मैंने लिखा भी है कि वे नगरों, गाँवों आदि असंख्य स्थानों में जो भाषण देती हैं उसे मैं मानक (स्टैंडर्ड) हिन्दी मानता हूँ। वही भारत की राजभाषा है। उनकी हिन्दी के प्रति सद्भावना तथा उसको संविधान में घोषित स्थान दिलाने की सदिच्छा में मुझे किसी प्रकार का संदेह नहीं है। उन्होंने राजकाज में हिन्दी में अधिक काम करने के लिए प्रत्येक विभाग ही में नहीं, प्रायः प्रत्येक कार्यालय में हिन्दी अधिकारी की अध्यक्षता में एक-एक समिति बनायी है। हिन्दी का वातावरण बनाने के लिए सरकारी भवनों, रेलों, अंतरिक्ष यानों, विमानों, इंजिनों आदि के नाम ऐसी हिन्दी में रखे जाते हैं जो देश के अधिकांश लोगों को ग्राह्य हों, जैसे विज्ञान भवन, उद्योग भवन, रेल भवन, आर्यभट्ट, नीलांचल एक्सप्रेस, तमिलनाडु एक्सप्रेस आदि। हमारे लिए तमिलनाडु शब्द हिन्दी शब्द है क्योंकि वह हिन्दी में आत्मसात् हो गया है। भगवान अगस्त्य और परशुराम हिन्दीवालों में भी उतने ही पूज्य हैं जितने तमिलनाडु और केरल में। काञ्ची भी काशी की तरह उत्तर के लिए तीर्थ है और कावेरी भी गंगा और नर्मदा की तरह ही उत्तर के लिए पवित्र नदियां हैं। दक्षिण की भाषाओं के अनेक शब्द हिन्दी के प्रचलित शब्द हैं। गजट, सूचनाएँ, रिपोर्टें आदि भी हिन्दी में सरकार द्वारा प्रकाशित होते हैं। संसद में हिन्दी का खुल कर उपयोग होता है। जहाँ तक प्रधान मंत्री का प्रश्न है उनमें हिन्दी के लिए सद्भावना, सहयोग और उसे उन्नत करने की भावना है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। किन्तु सभी मंत्री उनके विचार के नहीं हैं। इस अवसर पर मंत्रियों और उनके विभागों के बारे में कुछ कहना असंगत होगा। उनसे भी अधिक हिन्दी उपयोग में बाधक नौकरशाही है। भारत की नौकरशाही की परम्परा ही हिन्दी-विरोधी रही है। भारत का पहला नौकरशाह टोडरमल था जो बादशाह अकबर का राजस्व मंत्री था। तब तक राजस्व का काम देशी भाषाओं में (उत्तरी क्षेत्र में हिन्दी-देवनागरी में) होता था। टोडरमल ने देशी भाषाओं को हटाकर तत्कालीन सरकारी भाषा फारसी चला दी। जब सेंट्रल प्राविंस (मध्य प्रदेश या सी० पी०) सेवा बनी तब निम्नस्तर के काम के लिए शासन ने हिन्दी के उपयोग का निश्चय

कर वहाँ उसे चला दिया। वह नया प्रान्त था। अनुभवी अधिकारियों की कमी थी। एक बार वहाँ की सरकार ने उत्तर प्रदेश सरकार से कुछ दिनों के लिए कुछ अधिकारी माँगे। वे वहाँ गये, किन्तु वहाँ हिन्दी की जगह (जो मध्य प्रदेश में चलती थी) उर्दू में (जो उन दिनों उ० प्र० में चलती थी) काम करने लगे। जब मध्य प्रदेश सरकार ने आपत्ति की तब वे उनसे भिड़ गये और मामला बड़े लाट तक गया। ये दो उदाहरण मैंने भारत की (विशेषकर उत्तर प्रदेश की) नौकरशाही के दिये हैं। आज भी प्रायः सभी शासन (विशेषकर केन्द्र का शासन) उन्हीं के समान नौकरशाही के हाथों में है। वे उसी पुरानी टकसाल से अंग्रेजी छाप लेकर निकलते हैं। यह अन्याय होगा, यदि मैं यह न कहूँ कि अंग्रेजों के समय में भी और आज कुछ अधिक अनुपात में हिन्दीनिष्ठ नौकरशाह जहाँ-तहाँ मिल जाते हैं। अंग्रेजों के समय में वे दाल में छौंक के बराबर थे, आज नमक के बराबर हैं।

नेताओं में भी गुणात्मक परिवर्तन आया है। तब काँग्रेस की कार्रवाई अधिकतर हिन्दी में होती थी। अब वह स्थिति नहीं रही। अंग्रेजी का उपयोग बढ़ गया है। परिणाम यह है कि देशी भाषाएँ और हिन्दी "वोट" प्राप्त करने की भाषाएँ हो गयी हैं और अंग्रेजी आज भी शासन की मुख्य भाषा है।

गत चुनाव में एक हिन्दीभाषी क्षेत्र से एक ऐसे बड़े नेता खड़े किये गये जो हिन्दी नहीं जानते थे और अंग्रेजी में भाषण देते थे। परिणाम यह हुआ कि मतदाताओं ने उन्हें हरा दिया। वोट माँगने में अंग्रेजी का प्रयोग असफल हुआ जो होना ही था। अतएव हिन्दी 'वोट' माँगने की भाषा—अर्थात् जनता की भाषा बनी रहेगी। किन्तु ये नेता, जनता की भाषा का वोट प्राप्त करने के अतिरिक्त अपने अन्य कामों में कितना प्रयोग करेंगे, यह भविष्य ही बतलायेगा।

अन्त में हिन्दी के प्रति विदेशों के रुख पर भी कुछ कह देना आवश्यक है। किसी भी देश के लिए भारत ऐसे विशाल और प्राचीन देश की भाषा या संस्कृति में निष्काम भाव से या सांस्कृतिक

जिज्ञासा के कारण रुचि लेना इस शक्ति और स्वार्थपरक युग में अधिक संभव नहीं। विदेशों का हिन्दी के प्रति क्या रुख है, यह एक सर्वेक्षण और शोध का विषय है। विश्व हिन्दी सम्मेलन चाहे तो इस कार्य को कर सकता है। विदेशों में जहाँ-तहाँ दो एक जिज्ञासु विद्वान् अवश्य मिल जायेंगे, किन्तु वे अपने देश की राजनीति या समाज-नीति के निर्धारण में विशेष प्रभाव नहीं रखते। इसलिए वे अपने देश में न तो हिन्दी के लिए अपनी सरकारों को प्रभावित ही कर सकते हैं और न विशेष रुचि ही उत्पन्न कर सकते हैं। उन्हें यदि छोड़ दें तो विश्व इस समय दो समूहों में विभक्त है—रूस और अमरीका। जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है, हम इंग्लैंड को भी अमरीका के साथ जोड़ सकते हैं क्योंकि दोनों की भाषा अंग्रेजी है। दोनों ही गुट भारत पर प्रभाव डालना चाहते हैं और इसके लिए भाषा सबसे सरल और महत्वपूर्ण साधन है।

अंग्रेजों ने यहाँ के उच्चवर्ग और नौकरशाहों में ही नहीं, मध्य-वर्ग के एक बड़े अंश में भी अंग्रेजी का प्रचार कर दिया। अंग्रेजों के चले जाने के वाद भी भारत में अंग्रेजी पुस्तकों, पत्रिकाओं, समाचार-पत्रों की माँग वढ़ती जाती है। अंग्रेजी फिल्मों, आकाशवाणी तथा दूरदर्शन के कार्यक्रमों द्वारा भी अंग्रेजी का वातावरण वनाये रखने में सहायता मिलती है। इंग्लैंड और अमरीका की पुस्तकें पढ़ते-पढ़ते, उन्हीं के चित्र देखते-देखते, उन्हीं की वार्ताएँ और राजनीतिक विचार पढ़ते-पढ़ते भारतवासियों पर अनजाने ही में उनकी संस्कृति, राजनीतिक विचारधारा, विवादग्रस्त विषयों पर उनका दृष्टिकोण, अनजाने ही उन्हें उन विचारों का अनुयायी वना देता है और यदि अनुयायी न भी वनाया तो उनके लिए सहानुभूति और सद्भावना तो उत्पन्न कर ही देता है। इस प्रचार या प्रोपेगैण्डा के युग में यह अत्यन्त ही महत्व का राजनीतिक लाभ है।

इसका आर्थिक पहलू भी है। सरकार ने बाहर से पुस्तकें मँगाने पर तरह-तरह के बंधन लगा रखे हैं। फिर भी मेरे एक प्रकाशक मित्र का कहना है कि प्रति वर्ष भारत में इन दोनों देशों से आठ-दस

करोड़ रुपयों की पुस्तकों का आयात होता है। उनका अनुमान है कि यदि इन पुस्तकों का आयात मुक्त कर दिया जाय तो उनका मूल्य एक-दो अरब रुपये प्रति वर्ष तक हो सकता है।

इन दोनों अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारणों से न अमरीका चाहता है और न इंग्लैंड ही कि भारत में देशी भाषाएँ पनपें। वे दोनों हिन्दी की उन्नति और राजभाषा होने से आशंकित हैं। वे उसे अपने हित में नहीं समझते। यदि अंग्रेजी का स्थान हिन्दी ले ले, तो उनका राजनीतिक प्रोपेगैण्डा जो आज यहीं के लोग, बिना कुछ लिये, स्वयं करते हैं तथा अपना पैसा अमरीका और इंग्लैण्ड को भेज कर उनके विचारों को पढ़ते और उनसे प्रभावित होते हैं, वह लाभ समाप्त हो जायेगा। अतएव रूस की तरह अमरीका सरकार ने न तो हिन्दी अनुवाद विभाग ही खोला, न हिन्दी के लिए पुरस्कार ही दिये। ये मोटी बातें हैं। मैं अधिक विवरण में न जाऊँगा।

इसके विपरीत रूस के लिए यहाँ के उच्च वर्ग और सामान्य जनता में रूसी भाषा द्वारा अपना प्रोपेगैण्डा करना असम्भव है। अतएव उसकी नीति दोहरी है: (१) अंग्रेजी का पठन-पाठन तथा महत्त्व जितना हो सके कम किया जाय। यहाँ अंग्रेजी का स्थान रूसी भाषा तो ले नहीं सकती, अतएव वे अंग्रेजी के स्थान पर देशी भाषाओं को विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। (२) हिन्दी सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। एक तो वह संवैधानिक राजभाषा है, दूसरे देश के प्रायः ४० प्रतिशत भाग की मातृभाषा तथा अन्य क्षेत्रों में कम या अधिक बोली या समझी जाती है। जहाँ अमरीका और इंग्लैण्ड अपने स्वार्थ के लिए हिन्दी की उपेक्षा करते हैं और अंग्रेजी प्रचार के उपाय करते हैं (जैसे हैदराबाद में अंग्रेजी शिक्षा संस्थान या अनेक स्थानों में अंग्रेजी भाषा के पुस्तकालय खोलना), वहाँ रूस अंग्रेजी का महत्व कम करने और एक दिन देशी भाषाओं को उनका स्थान दिलाने के लिए सक्रिय है। इस तरह वह हिन्दी और देशी भाषाओं के महान हितैषी के रूप में हमारे सामने उपस्थित होता है। हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक भाषाओं की कृतियों के सोवियत भाषाओं में योजनावद्ध अनुवाद कर, उनके लेखकों को अनेक प्रकार से सम्मानित

कर, उन्हें वहाँ अपने व्यय पर आमंत्रित कर तथा रूस के ऐतिहासिक और सुरम्य स्थानों का भ्रमण कराकर तथा अनेक रूसी उपन्यासों, वैज्ञानिक पुस्तकों के हिन्दी तथा अन्य देशी भाषाओं में बहुत आकर्षक अनुवाद करा कर वहुत सस्ते दामों पर देने की योजना पर अमल कर रहा है। किन्तु रूस का हिन्दी समर्थन "निष्काम" नहीं है। अंग्रेजी को हटा कर देशी भाषाओं की उनकी जगह स्थापना उसका उद्देश्य संभवतः इसलिए है कि अमरीका आदि के भारत में व्यापक प्रचार को कम कर दिया जाय। किन्तु शायद इससे भी अधिक उद्देश्य कम्यूनिज़्म का इस देश में प्रचार करना है। इसके लिए तरह-तरह के आकर्षक नारों जैसे प्रगतिवाद, विश्वशांति, विश्वबन्धुत्व आदि का उपयोग किया जाता है। प्रगतिशील आन्दोलन का भारत में प्रवर्तन मुख्य रूप से कम्युनिस्टों ने ही किया। वह कुछ गैर-कम्युनिस्ट प्रतिष्ठित हिन्दी साहित्यिकों को भी समादृत कर, जैसे निराला को "प्रगतिशील" घोषित कर, अपना प्रभाव बढ़ाता रहता है। किन्तु जो सामान्य गैर-कम्युनिस्ट लेखक हैं उन्हें घास नहीं डालता। मैंने सन् १९१६ में "महात्मा टालस्टाय" के नाम से उनकी एक जीवनी लिखी थी जो मार्च १९१७ में प्रकाशित हुई थी। हिन्दी में वह उनकी पहली जीवनी और भारतीय भाषाओं में दूसरी थी, क्योंकि १९१२ में बँगला में उनकी एक जीवनी छप चुकी थी। उसकी कोई प्रति मेरे पास भी नहीं थी। पाँच वर्ष की खोज और परिश्रम के बाद वह एक जगह मिली। मैं उसे संशोधित और परिवर्द्धित कर प्रकाशित करना चाहता था। किन्तु डॉ० विद्यानिवास मिश्र का आग्रह था कि वह बिना किसी परिवर्तन-संशोधन के ज्यों की त्यों छपे, क्योंकि यह मेरे लेखन के विकास का ही एक सोपान नहीं, प्रत्युत १९१६ की चलती हिन्दी का भी नमूना है। उसकी २,००० प्रतियाँ छपीं। प्रकाशक ने सोचा था कि रूस में कुछ प्रतियाँ बिक जायेंगी, किन्तु रूस में एक भी प्रति नहीं बिकी, क्योंकि लेखक न कम्युनिस्ट है, न प्रगतिशील और न टालस्टाय की जीवनी से कम्यूनिज़्म का प्रचार ही हो सकता है। मुझे इसका कोई गम नहीं क्योंकि मैंने अपनी पुस्तकों की रायल्टी कुछ संस्थाओं के नाम लिख दी है। इसके वावजूद प्रायः दो वर्षों में उस पुस्तक की १,४०० प्रतियाँ बिक गयीं।

फिर भी रूस अंग्रेजी की जगह देशी भाषाओं को लाना चाहता है——उद्देश्य कुछ भी हो। यही हमारा भी उद्देश्य है। अतएव हम रूस के प्रयत्नों का स्वागत करते हैं। इसके विपरीत, अमरीका और इंग्लैण्ड यहाँ अंग्रेजी बने रहने के लिए इच्छुक हैं। किन्तु अमरीका में भी अनेक विद्वान् विद्या-प्रेम या भाषा-प्रेम के कारण हिन्दी का अध्ययन करते हैं। वे राजनीति और व्यवसाय से अलग हैं। वे विशुद्ध भाषा-प्रेमी हैं। उनका हिन्दी-प्रेम सात्विक और निष्काम है। वे हमारे लिए वरेण्य हैं। इस विषय का मैंने कुछ थोड़ा अध्ययन किया है। उस सबको न लिखकर हिन्दी-वालों को, जो विश्व में हिन्दी का प्रचार करना चाहते हैं, मैं उन्हें स्थिति से (जैसा मैंने समझा है) अवगत करा देना आवश्यक समझता हूँ।

अब मैं संसार के विभिन्न भागों में बसे हिन्दीभाषियों की कुछ समस्याओं की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। अमरीका के कई देशों में काफी संख्या में हिन्दीभाषी तथा अन्य भारतीय भाषा-भाषी या तो बस गये हैं या रहते हैं। आज अमरीका, कनाडा, इंग्लैण्ड आदि में कई लाख भारतवासी रह रहे हैं। अमरीका में विदेशों से आकर वसने-वालों को "अमरीकन" वनाने के योजनावद्ध रूप से सफल प्रयास किये जाते हैं और वे दो या तीन पीढ़ियों में भाषा, संस्कृति और विचारों में पूरे अमरीकन वन जायेंगे। इंग्लैण्ड में जो लोग (डाक्टर, इंजीनियर, व्यवसायी) गये हैं वे तो भारत में ही अंग्रेजी के भक्त और जीवन में अंग्रेजनुमा हो गये थे। उनमें जो वहाँ वस गये हैं वे दो-तीन पीढ़ियों बाद पूरे ब्रिटिश हो जायें तो आश्चर्य नहीं। इन सब में हिन्दी का उपयोग वनाये रखने के लिए प्रयत्न आवश्यक है।

इन देशों के अतिरिक्त कुछ ऐसे देश भी हैं जहाँ हिन्दी-भाषी लोग बड़ी संख्या में निवास करते हैं। उनमें फीजी, मारिशस, सूरीनाम, गुयाना और दक्षिण अफ्रीका प्रमुख हैं। इनमें वसे हिन्दीभाषियों ने अपनी भाषा नहीं छोड़ी और वे हमारी आपकी तरह हिन्दीभाषी ही नहीं, हिन्दी-प्रेमी भी हैं। हमें उनके साथ अधिकाधिक निकट संबंध, विशेषकर भारतीय संस्कृति और भाषा के क्षेत्रों में दृढ़ करना आवश्यक है जिससे उन्हें वल मिले। उनका समर्थन हमारे लिए बड़ा

मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण होगा। अन्य अफ्रीकी देशों के हिन्दीभाषियों तथा अन्य भारतीय भाषा-भाषियों में भारत की राजभाषा के रूप में हिन्दी के प्रचार के विशेष उपाय करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार संसार के विभिन्न देशों में स्थायी रूप से बसे और अस्थायी रूप से गये हुए हिन्दी-भाषियों और अन्य भारतवासियों को देश की राजभाषा का ज्ञान कराने के लिए उनकी समस्याओं को समझना और उनके निराकरण का उपाय करना भी एक आवश्यक कार्य है।

विदेशी विश्वविद्यालयों में हिन्दी अध्यापन और उससे सम्बन्धित समस्या का उल्लेख करना भी आवश्यक है। संसार के, विशेषकर यूरोप के देशों और जापान के अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी पढ़ायी जाती है। अधिकांश लोग भारत की घोषित राजभाषा होने या व्यापार के सुभीते के कारण हिन्दी पढ़ते हैं। उनमें बहुत कम हिन्दी भाषा या साहित्य में रुचि लेते हैं, किन्तु उनमें जो थोड़े लोग हिन्दी में रुचि लेते हैं वे भी हमारे लिए वरेण्य हैं। किन्तु भारत का विदेश विभाग हिन्दी का उपयोग बहुत कम करता है। उसका अधिकांश कार्य अंग्रेजी में किया जाता है। अतः विदेशी राजदूतावासों में हिन्दी जानने वालों को उसके उपयोग का अवसर प्रायः नहीं मिलता। विदेशों में स्थित भारतीय दूतावास भी हिन्दी का उपयोग नाममात्र को ही करते हैं। इस कारण विदेश विभाग द्वारा हिन्दी उपयोग और प्रचार में कोई उल्लेखनीय सहायता नहीं मिलती। अतएव इस कारण विदेशी सरकारों द्वारा अपने अधिकारियों को हिन्दी पढ़ाने की योजना का भविष्य क्या होगा, यह नहीं कहा जा सकता। यदि भारत सरकार, विशेष कर विदेश, व्यापार, कृषि और उद्योग विभाग अपना काम और विदेशों से पत्राचार हिन्दी में करने लगें तो वे विश्व हिन्दी सम्मेलन के उद्देश्य में बहुत सहायक हो सकते हैं तथा विदेशों में हिन्दी पठन-पाठन को कई गुना बढ़ा सकते हैं।

अन्त में, संक्षेप में, मैं कुछ सुझाव देने का साहस कर रहा हूँ। विश्व हिन्दी सम्मेलन की जन्मदात्री वर्धा की राष्ट्रभाषा प्रचार सभा है। यह अधिवेशन भी उसी के प्रयत्न का परिणाम है, इसके लिए हम सब उसके कृतज्ञ हैं। अधिवेशनों के अन्तराल में शायद वही

इसका कार्य देखती है । मेरी सम्मति में अब समय आ गया है कि उसका एक स्थायी निदेशालय हो जो केवल इस सम्मेलन का कार्य करता रहे । जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, जिन देशों में हिन्दी का कार्य, प्रचार और प्रसार करना है, उनकी कई श्रेणियाँ हैं । प्रत्येक श्रेणी के लिए निदेशालय में अलग विभाग हों । यह निदेशालय भारत में हिन्दी का कोई कार्य न करे, किन्तु इसका एक विभाग भारत सरकार के विदेश विभाग और उसके राजदूतावासों के कार्य पर दृष्टि रखने के लिए अवश्य हो । निदेशालय नीति, कार्यक्रम कार्यशैली आदि निश्चित करे तथा विभागों के कार्य का भी, जहाँ आवश्यक हो, सहायता और मार्गदर्शन करता रहे । इसे कैसे बनाया जाय, उसका गठन और संगठन कैसा हो, यह सम्मेलन या राष्ट्रभाषा प्रचार सभा या दोनों मिलकर करें। एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है । वर्धा की समिति निःस्पृह, योग्य, सेवाभावी कार्यकर्ताओं के कारण अनेक महान कार्य सफलतापूर्वक कर सकी है। अतएव निदेशालय में मोटे वेतनों के लिये "सेवा" करने वालों को अधिकारी न नियुक्त किया जाय, निःस्पृह, सेवाभावी व्यक्तियों को ही लिया जाय ।

मेरा यह भी सुझाव है कि यह निदेशालय दिल्ली या ऐसे ही किसी बड़े नगर में न स्थापित किया जाय, क्योंकि ये स्थान अत्यन्त खर्चीले हैं और इनमें से प्रायः सभी में थोड़ी-बहुत साहित्यिक दल-वन्दियाँ हैं । मेरा अनुभव है कि ऐसे नगरों में रहने वाले सामान्य लोग भी वहाँ के वातावरण और आवश्यकताओं के कारण अपना स्तर ऊँचा कर लेते हैं, और परिणामस्वरूप अधिक वेतन की माँग करते हैं। छोटा नगर होने के नाते एवं वहाँ का जीवन अपेक्षाकृत कम खर्चीला होने के कारण वर्धा इसके लिए सर्वोपयुक्त है । मेरी जानकारी में वहाँ साहित्यिक दलबन्दी भी नहीं है । सभा के सामान्य कर्मचारी भी वहाँ सेवाभाव से कार्यरत होंगे। यह मेरा सुझाव मात्र है । यदि आप इसे उपयुक्त समझें तो विचार करने की कृपा करें ।

मैं विश्व हिन्दी सम्मेलन का समर्थक हूँ । मैं अब ९१वें वर्ष में चल रहा हूँ, कोई सक्रिय सहयोग नहीं दे सकता । इस अधिवेशन के अध्यक्ष माननीय श्री बलराम जाखड़ और कार्यकारी अध्यक्ष श्री

मधुकर राव चौधरी द्वारा भारत को संसार से जोड़ने का जो हिन्दी का विशाल सेतु बनाया जा रहा है और जिसे हमारी हिन्दी हितैषिणी प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी का हार्दिक आशीर्वाद प्राप्त है, उसमें भगवान् राम के सेतु बनाने में गिलहरी के हास्यास्पद किन्तु सद्भावना से प्रेरित प्रयास की तरह यह प्रकाशन मेरा भी एक क्षुद्र सहयोग है।

इस संकलन को प्रकाशित करने के मेरे विचार का सबसे अधिक समर्थन प्रो० वासुदेव सिंह ने किया ही नहीं, वरन् मुझे बार-बार प्रोत्साहित करके मेरे स्वास्थ्य की इस अवस्था में भी पूरा करा लिया। यदि वे मुझे इस प्रकार प्रोत्साहित न करते तो स्वास्थ्य की वर्तमान परिस्थिति में यह विचार मात्र ही रह जाता।

मेरी अस्वस्थता में इसका प्रूफ आदि देखने में भाई ज्ञानचन्द जैन ने मेरा जो भार हल्का कर दिया, वह उन्होंने मेरे प्रति अपने सहज स्नेहवश किया है। अन्त में मैं अपने अनुजतुल्य स्नेहभाजन डॉ० विद्यानिवास मिश्र का उल्लेख मात्र करूँगा जिनकी सहायता के विना मैं यह संकलन तैयार न कर पाता।

अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी प्रायः दो सप्ताह में इस पुस्तक को इतने सुन्दर रूप में छाप देने का चमत्कार भाई श्री सत्यनारायण भार्गव की कर्मठता और सहृदयता के कारण ही संभव हुआ है।

इस संकलन के तैयार करने में मुझे नागरी प्रचारिणी पत्रिका, हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका, जीवन साहित्य तथा देवनागर से जो सहायता मिली है, उसके लिये मैं आभार व्यक्त करता हूँ। इसके अतिरिक्त मेरे जिन विद्वान मित्रों ने लेख लिखकर मेरे साथ सहयोग किया है, उनके प्रति मैं कृतज्ञ हूँ।

—श्रीनारायण चतुर्वेदी

पुनश्चः—इस भूमिका में व्यक्त विचार मेरे अपने हैं। इसके लिए कोई संस्था, जिससे मैं प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से संबंधित हूँ, जिम्मेदार नहीं है। इसीलिए मैंने यह पुस्तक न किसी प्रकाशक और न किसी संस्था से प्रकाशित करायी है।

विषय-सूची

खण्ड १—भाषा

खण्ड २—देवनागरी

खण्ड १

भाषा

उद्‌बोधन

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल।
करहु विलम्व न भ्रात, अब उठहु, मिटावहु सूल
निज भाषा उन्नति करहु, प्रथम जो सबको मूल।
विविध कला, शिक्षा अमित, ज्ञान अनेक प्रकार
सब देसन सों लै करहु भाषा माँहि प्रचार।
प्रचलित करहु जहान में निज भाषा करि यत्न
राज-काज दरबार में फैलावहु यह रत्न॥

[सन् १८८० में इलाहाबाद की नागरी प्रवर्द्धिनी सभा में दिये गये १०० दोहों के उनके पद्यात्मक भाषण के आरंभिक और अन्तिम दोहे।]

* * *

"इस महामंत्र का जप करो। जो हिन्दुस्तान में रहे चाहे किसी जाति, किसी रंग का क्यों न हो वह हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मरट्ठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मण, मुसलमान सब एक का हाथ एक पकड़ो।"

× × ×

"भाइयो! अब तो नींद से चौंको। अपने देश की सब प्रकार उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी ही बातचीत करो। परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा मत रखो, अपने देश में, अपनी भाषा में उन्नति करो।"

(१८८४ में बलिया में वहाँ के कलक्टर श्री राबर्ट्स की अध्यक्षता में दिये गये भाषण के दो महत्त्वपूर्ण अंश।)

विचार-रत्नकण

महामना मदन मोहन मालवीय

देवनागरी लिपि—सर आइजक पिटमैन ने कहा है कि "संसार में यदि कोई सर्वाङ्गपूर्ण अक्षर है तो नागरी के हैं।" वम्बई सुप्रीम कोर्ट के चीफ जस्टिस सर अर्सकिन पेटी ने "नोट्स टु ओरियंटल केसेज" की भूमिका में लिखा है कि एक लिखित लिपि की सर्वाङ्ग-पूर्णता इसी से जान पड़ती है कि प्रत्येक शब्द का उच्चारण उसके देखने से ही ज्ञात हो जाये और यह गुण भारतवर्ष के अन्य अक्षरों की अपेक्षा देवनागरी अक्षरों में अधिक पाया जाता है जिसमें संस्कृत लिखी जाती है। इस गुण से लाभ यह है कि वालकों ने जहाँ अक्षर पहचान लिये कि वे सुगमता से तथा विना रुकावट के देवनागरी लिपि पढ़ने लग जाते हैं किंतु जव वह एक बार लिख जाते हैं तो वह छपे हुए के समान हो जाते हैं। यहाँ तक कि उसमें छपे हुए शब्द को उसका अर्थ न जाननेवाला व्यक्ति भी शुद्धतापूर्वक पढ़ लेगा।

देशी भाषा और हिन्दी की आवश्यकता—हमें दो बातों की ओर ध्यान देना चाहिए। एक तो हिन्दी भाषा की उन्नति की जाये, दूसरे इसी भाषा के द्वारा उच्च शिक्षा का प्रचार किया जाय। सभी प्रांतीय भाषाओं की उन्नति हो रही है। सभी प्रांतों के निवासी अपनी-अपनी भाषा में उच्च शिक्षा देने-दिलाने का प्रबन्ध कर रहे हैं। कुछ लोगों का विचार है कि देशी भाषा उच्च शिक्षा के लिए उपयुक्त नहीं है। वे कहते हैं कि देशी भाषा घर, बाजार, पत्रव्यवहार और समाचारपत्रों के लिए तो उपयुक्त है, किन्तु कालेजों के लिए अनुपयुक्त है। यह वात शोचनीय है। प्रत्येक देश में देशी भाषा द्वारा विद्या का प्रचार होता है। राजकाज, व्यापार इत्यादि सब उन्नति के कार्य देशी भाषा के ही द्वारा उत्तम रीति से हो सकते हैं। जब हम अपने देश के प्राचीन काल की ओर दृष्टि डालते हैं तब भी मालूम होता है कि उस समय भी यहाँ पर संस्कृत और

प्राकृत भाषा में शिक्षा-प्रचार तथा देशोन्नति के सब काम होते थे। अनेक राज्यक्रांतियों के कारण शुद्ध संस्कृत वाणी घिसती तथा बदलती हुई पहले प्राकृत, फिर गाथा और फिर अपभ्रंश के रूप में बदलती गयी। जिस काल में जो भाषा प्रचलित हुई उसी में सब कार्य होते रहे। बौद्धकाल में, अशोक के जमाने में पालि भाषा के द्वारा सब काम सम्पन्न होते थे। मुसलमानों के जमाने में भी देशी भाषा के ही द्वारा सब कार्य होते थे। उसी समय के लगभग प्राकृत से रूपान्तर होकर हिन्दी बनी।

हिन्दी और देशी भाषाओं का महत्त्व—साहित्य और देश की उन्नति अपने देश की भाषा ही के द्वारा हो सकती है। हाँ, यह सच है कि अंग्रेजी का भण्डार बहुत बड़ा है। उसमें राजनीतिक भाव बहुत अच्छे हैं। आधुनिक विज्ञान का परिचय भी हमको उसी भाषा के द्वारा हुआ है। अब यह लाभ देशव्यापी करना है। यह कार्य देशी भाषा के द्वारा हो सकता है। बिजली की रोशनी से रात्रि का अंधकार दूर हो सकता है, किन्तु सूर्य का काम बिजली नहीं कर सकती है। इसी भाँति विदेशी भाषा के द्वारा सूर्य का प्रकाश नहीं कर सकते। अंग्रेजी के द्वारा जो बात जानी गयी है उसे अब देशी भाषा के द्वारा सारे देश में फैलाना चाहिए। सार्वजनिक रूप से यह कार्य हिन्दी ही के द्वारा हो सकता है। हम यह नहीं कहते कि देश भर में एक ही भाषा रहे। नहीं, सब प्रांतों में अपने-अपने प्रांत की भाषा की उन्नति हो। इन सबके रहते हुए हिन्दी भाषा राष्ट्रभाषा के तौर पर प्रयुक्त हो। अभी तक जो कार्य अंग्रेजी के द्वारा होता आया है वह अब हिन्दी के द्वारा होना चाहिए।

न्यायालयों की भाषा--जिस देश की जो भाषा है उसी भाषा में वास्तव में उस देश के न्याय, कानून, राज-काज, कौंसिल इत्यादि का कार्य होना चाहिए। हमारे यहाँ की परिस्थिति बिल्कुल इससे विपरीत है। जिस भाषा का हमारे भाइयों को कुछ भी परिचय नहीं है, उस भाषा में हमारे यहाँ के सब कामकाज होते हैं। हमारे देश के भाइयों के मरने-जीने का न्याय हो, पर हो वह दूसरी भाषा में, यह कैसे आश्चर्य की बात है! वास्तव में न्याय उस भाषा में

होना चाहिए जिसका एक-एक शब्द उसकी समझ में आता हो, जिसका कि न्याय हो रहा है। कानून और न्याय के नियम सब देश-भाषा में ही बनने चाहिए। अभी जिस भाषा में इसकी सृष्टि होती है उसे बहुत ही थोड़े लोग समझते हैं। यह अप्राकृतिक है। इंगलैण्ड में पार्लियामेंट का सब काम उसी भाषा में होता है जिसे गाड़ीवान और भंगी तक सब समझ सकते हैं। हमारे यहाँ उसे मुट्ठी-भर लोग समझते हैं। सम्पादक और विद्वान् लोग विदेशी भाषा में बने हुए उन नियमों को, जो वह भाषा बिल्कुल नहीं जानते, उन्हें कहाँ तक समझावें !

हिन्दी का प्रसार—बंगाल के सुप्रसिद्ध डॉक्टर राजेन्द्रलाल मित्र ने सन् १८६४ ई० में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में देवनागरी लिपि के संबंध में "हिन्दी भाषा की उत्पत्ति और उर्दू बोली से उसका संबंध" शीर्षक एक विद्वतापूर्ण लेख में लिखा था—

भारतवर्ष की देश-भाषाओं में हिन्दी सबसे प्रधान है। बिहार से सुलेमान पहाड़ तक और विन्ध्याचल से हिमालय की तराई तक सभ्य हिन्दू जाति की यही मातृभाषा है। गोरखा जाति ने इसका कुमाऊँ और नैपाल में भी प्रचार किया है। यह भाषा पेशावर से आसाम तक और काश्मीर से कन्याकुमारी के सब स्थानों में भली-भाँति समझी जा सकती है।

भाषा का संशोधन और परिवर्धन—समय के हेर-फेर से जहाँ हमारे देश में धर्म, राजनीति, इतिहास प्रभृति विषयों में अनेक प्रकार के परिवर्तन हुए हैं, वहाँ शब्दों, अर्थों और उनके आभ्यन्तरिक भावों में भी ऐसी तब्दीली हुई कि जिसने हमारे विचारों, चरित्रों, रीतियों और व्यवहारों को कुछ का कुछ बना दिया है और इसके कारण हमारे जातीय जीवन की काया ऐसी पलटी है कि जब तक उन शब्दों के वास्तविक तात्पर्य और अर्थ को हिन्दू जाति के सम्मुख दुबारा पूर्ण रूप से न रखा जायगा और उन शब्दों के साथ श्रेष्ठ और उच्च भावों और विचारों से सम्बन्ध न पैदा किया जायगा, तब तक हमारे सामाजिक व्यवहार और नीति-रीति का सुधार होना बहुत कठिन है।

राष्ट्रभाषा और लिपि

महात्मा मो० क० गाँधी

मेरी मातृभाषा में कितनी ही बुराइयाँ क्यों न हों, मैं उससे उसी प्रकार चिपटा रहूँगा, जिस प्रकार अपनी माँ की छाती से। वही मुझे जीवनदायी दूध दे सकती है। मैं अंग्रेजी को उसकी जगह प्यार करता हूँ, लेकिन अगर अंग्रेजी उस जगह को हड़पना चाहती है, जिसकी वह हकदार नहीं है, तो मैं उससे सख्त नफरत करूँगा। यह बात मानी हुई है कि अंग्रेजी आज सारी दुनियाँ की भाषा बन गयी है। इसलिए मैं उसे दूसरी जबान के तौर पर जगह दूँगा, लेकिन विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में, स्कूलों में नहीं। वह कुछ लोगों के सीखने की चीज हो सकती है, लाखों-करोड़ों की नहीं।······ रूस ने बिना अंग्रेजी के विज्ञान में इतनी उन्नति की है। आज अपनी मानसिक गुलामी के कारण हम यह मानने लगे हैं कि अंग्रेजी के बिना हमारा काम नहीं चल सकता। मैं इस चीज को नहीं मानता।······

राष्ट्रभाषा के क्या लक्षण होने चाहिए ?

१. वह भाषा सरकारी नौकरी के लिए आसान होनी चाहिए।

२. उस भाषा के द्वारा भारत का आपसी, धार्मिक, आर्थिक और राजनैतिक कामकाज हो सकना चाहिए।

३. उस भाषा को भारत के ज्यादातर लोग बोलते हों।

४. वह भाषा राष्ट्र के लिए आसान हो।

५. उस भाषा का विचार करते समय क्षणिक या कुछ समय तक रहनेवाली स्थिति पर जोर न दिया जाय।

अंग्रेजी भाषा में इनमें से एक भी लक्षण नहीं है। हिन्दी भाषा में ये सारे लक्षण मौजूद हैं। ये पाँच लक्षण रखने में हिन्दी की होड़ करनेवाली और कोई भाषा नहीं है।

हिन्दी के बाद दूसरा दर्जा बाँगला का है। फिर भी बंगाली लोग बंगाल के बाहर हिन्दी का ही उपयोग करते हैं। हिन्दी बोलनेवाले

जहाँ जाते हैं, वहाँ हिन्दी का ही उपयोग करते हैं और इससे किसी को अचंभा नहीं होता। हिन्दी के धर्मोपदेशक और उर्दू के मौलवी सारे भारत में अपने भाषण हिन्दी में ही देते हैं और अपढ़ जनता उन्हें समझ लेती है। जहाँ अपढ़ गुजराती भी उत्तर में जाकर थोड़ी-बहुत हिन्दी का उपयोग कर लेता है, वहाँ उत्तर का "भैया" बंबई के सेठ की नौकरी करते हुए भी गुजराती बोलने से इनकार करता है, और सेठ "भैया" के साथ टूटी-फूटी हिन्दी बोल लेता है। मैंने देखा है कि ठेठ द्रविड़ प्रांत में भी हिन्दी की आवाज सुनायी देती है। यह कहना ठीक नहीं कि मद्रास में तो अंग्रेजी से ही काम चलता है। वहाँ भी मैंने अपना सारा काम हिन्दी से चलाया है। सैकड़ों मद्रासी मुसाफिरों को मैंने दूसरे लोगों के साथ हिन्दी में बोलते सुना है। इसके सिवा, मद्रास के मुसलमान भाई तो अच्छी तरह हिन्दी बोलना जानते हैं।

इस तरह हिन्दी भाषा पहले से ही राष्ट्रभाषा बन चुकी है। हमने वर्षों पहले राष्ट्रभाषा के रूप में उसका उपयोग किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। फिर भी मद्रास के पढ़े-लिखे लोगों के लिए यह सवाल कठिन है, लेकिन दक्षिणी, बंगाली, सिंधी, गुजराती लोगों के लिए तो यह बड़ा आसान है। कुछ महीनों में ही वे हिन्दी पर अच्छा काबू करके राष्ट्रीय कामकाज उसमें चला सकते हैं।

कठिनाई सिर्फ आज के पढ़े-लिखे लोगों के लिए ही है। उनके स्वदेशाभिमान पर भरोसा करना और विशेष प्रयत्न करके हिन्दी सीख लेने की आशा रखने का हमें अधिकार है। भविष्य में यदि हिन्दी को उसका राष्ट्रभाषा का दर्जा मिले, तो हर मद्रासी स्कूल में हिन्दी पढ़ायी जायेगी और मद्रास तथा दूसरे प्रांतों के बीच परिचय की सम्भावना बढ़ जायेगी। अंग्रेजी भाषा द्रविड़ जनता में नहीं घुस सकी, पर हिन्दी को घुसने में देर नहीं लगेगी। तेलुगु जाति तो आज भी यह प्रयत्न कर रही है। ......

जितने साल हम अंग्रेजी सीखने में बर्बाद करते हैं, उतने महीने भी अगर हम हिन्दुस्तानी (हिन्दी) सीखने की तकलीफ न उठावें

तो सचमुच कहना होगा कि जनसाधारण के प्रति अपने प्रेम की जो डींगें हम हाँका करते हैं, वे निरी डींगें ही हैं।

हमने अपनी मातृभाषा के मुकावले अंग्रेजी से ज्यादा मोहब्बत रक्खी, जिसका नतीजा यह हुआ कि पढ़े-लिखे और राजनैतिक दृष्टि से जागे हुए ऊँचे तबके के लोगों के साथ आम लोगों का रिश्ता विल्कुल टूट गया और उन लोगों के बीच एक गहरी खाई वन गयी। यही वजह है कि हिन्दुस्तान की भाषाएँ गरीव वन गयीं और उन्हें पूरा पोषण नहीं मिला।...... हिन्दुस्तान की महान भाषाओं की जो अवमानना हुई है, उसकी वजह से हिन्दुस्तान को जो बेहद नुकसान पहुँचा है, उसका कोई अन्दाजा या माप आज हम निकाल नहीं सकते। मगर इतनी बात तो आसानी से समझी जा सकती है कि अगर आज तक हुए नुकसान का इलाज नहीं किया गया, यानी जो हानि हो चुकी है उसकी भरपाई करने की कोशिश हमने न की तो हमारी आम जनता को मानसिक मुक्ति नहीं मिलेगी। ......

यदि सरकारें और उनके दफ्तर सावधानी नहीं वरतेंगे तो मुमकिन है कि अंग्रेजी भाषा हिन्दुस्तानी (हिन्दी) की जगह हड़प ले। इससे हिन्दुस्तान के उन करोड़ों लोगों को बेहद नुकसान होगा, जो कभी भी अंग्रेजी समझ नहीं सकेंगे। मेरे विचार से प्रांतीय सरकारों के लिए यह वहुत आसान बात होनी चाहिए कि वे अपने यहाँ ऐसे कर्मचारी रक्खें, जो सारा काम प्रान्तीय भाषाओं में और अंतरप्रांतीय भाषा में कर सकें। ......

यह जरूरी फेरफार करने में एक दिन भी खोना देश को भारी सांस्कृतिक हानि पहुँचाना है। ...... भाषा के विषय में एक बिल्कुल अनावश्यक विवाद खड़ा हो गया है, जिसकी वजह से हिन्दुस्तान में अंग्रेजी भाषा घुस सकती है और अगर ऐसा हुआ तो वह इस देश के लिए ऐसी कलंक की वात होगी, जिसे धोना हमेशा के लिए असंभव होगा। अगर सारे सरकारी दफ्तरों में प्रांतीय भाषा इस्तेमाल करने का कदम इसी वक्त उठाया जाय, तो अंतरप्रांतीय भाषा का उपयोग तो उसके बाद तुरन्त ही होने लगेगा। प्रांतों को केन्द्र से सम्बन्ध रखना ही पड़ेगा। ......

हिन्दी-भाषी लोगों को दक्षिण की भाषा सीखने की जितनी जरूरत है, उसकी अपेक्षा दक्षिणवालों को हिन्दी सीखने की आवश्यकता अवश्य ही अधिक है। सारे हिन्दुस्तान में हिन्दी बोलने और समझनेवालों की संख्या दक्षिण की भाषाएँ बोलनेवालों से दुगुनी है। प्रांतीय भाषा या भाषाओं के बदले में नहीं, बल्कि उसके अलावा एक प्रांत का दूसरे प्रांत से सम्बन्ध जोड़ने के लिए एक भाषा की आवश्यकता है। ऐसी भाषा तो हिन्दी-हिन्दुस्तानी ही हो सकती है।......

मैं हमेशा से यह मानता रहा हूँ कि हम किसी भी हालत में प्रांतीय भाषाओं को नुकसान पहुँचाना या मिटाना नहीं चाहते। हमारा मतलब तो सिर्फ यह है कि विभिन्न प्रांतों के पारस्परिक सम्बन्ध के लिए हम हिन्दी भाषा सीखें। ऐसा कहने से हिन्दी के प्रति हमारा कोई पक्षपात प्रकट नहीं होता। हिन्दी को हम राष्ट्र-भाषा मानते हैं। वह राष्ट्रीय होने के योग्य है। ......

यदि हिन्दी अंग्रेजी का स्थान ले ले तो कम से कम मुझे तो अच्छा ही लगेगा। ...... अगर हिन्दुस्तान को हमें सचमुच एक राष्ट्र बनाना है तो चाहे कोई माने या न माने, राष्ट्रभाषा हिन्दी ही बन सकती है, क्योंकि जो स्थान हिन्दी को प्राप्त है, वह किसी दूसरी भाषा को कभी नहीं मिल सकता। हिन्दू-मुसलमान दोनों को मिलाकर करीब बाइस करोड़ मनुष्यों की भाषा, थोड़े बहुत फेरफार से हिन्दी-हिन्दुस्तानी ही है। ......

हिन्दी बोलनेवालों की संख्या करोड़ों की रहेगी, किन्तु अंग्रेजी बोलनेवालों की संख्या कुछ लाख से आगे कभी नहीं बढ़ सकेगी। इसका प्रयत्न भी करना जनता के साथ अन्याय करना होगा।

हमारे रास्ते की सबसे बड़ी बाधा हमारी देशी भाषाओं की कई लिपियाँ हैं। अगर एक सामान्य लिपि अपनाना सम्भव हो, तो एक सामान्य भाषा का हमारा जो स्वप्न है, उसे पूरा करने के मार्ग की एक बड़ी रुकावट दूर हो जायेगी।......

मैं मानता हूँ कि इस बात का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण देने की जरूरत नहीं है कि देवनागरी ही सर्वमान्य लिपि होनी चाहिए,

क्योंकि उसके पक्ष में निर्णायक बात यह है कि उसे भारत के अधिकांश भाग के लोग जानते हैं ।

जो वृत्ति इतनी वर्जनशील और संकीर्ण हो कि हर बोली को चिरस्थायी बनाना और विकसित करना चाहती हो, वह राष्ट्रविरोधी और विश्वविरोधी है। मेरी विनम्र सम्मति में सारी अविकसित और अलिखित बोलियों का बलिदान करके उन्हें हिन्दुस्तानी की बड़ी धारा में मिला देनी चाहिए। यह आत्मोत्कर्ष के लिए किया गया बलिदान होगा, आत्महत्या नहीं। अगर हमें सुसंस्कृत भारत के लिए एक सामान्य भाषा बनानी हो, तो हमें भाषाओं और लिपियों की संख्या बढ़ानेवाली या देश की एकता को छिन्न-भिन्न करनेवाली किसी भी क्रिया का बढ़ना रोकना होगा। अगर मेरी चले तो मैं जमी हुई प्रांतीय लिपि के साथ-साथ सब प्रांतों में देवनागरी लिपि का सीखना अनिवार्य कर दूँ और विभिन्न देशी भाषाओं की मुख्य-मुख्य पुस्तकों को उनके शब्दशः अनुवाद के साथ देवनागरी में छपवा दूँ।

राजर्षि टंडनजी के हिन्दी सम्बंधी विचार

[राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन का समस्त जीवन देश और हिन्दी की सेवा में समर्पित रहा, यह सभी को मालूम है। उन्होंने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण दिया था। उनका हिन्दी सम्बंधी एक बड़ा निबंध भी पुस्तकाकार छपा था। संविधान सभा, उत्तर प्रदेश की विधान सभा तथा अन्य स्थानों पर दिये गये अपने भाषणों में उन्होंने हिन्दी के सम्बंध में अपने विचार बड़ी स्पष्टता से व्यक्त किये थे। दुर्भाग्य से अस्वस्थ हो जाने के कारण मैं इस पुस्तिका में छापने योग्य उनका कोई छोटा भाषण ढूंढ नहीं पाया। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने उनकी जन्मशती पर एक स्मारिका प्रकाशित की है। उसमें डॉ० गणेशदत्त सारस्वत ने सन् १९५५ में उनसे जो साक्षात्कार किया था उसका विवरण प्रकाशित है। उन्होंने टंडनजी से चार प्रश्न किये थे। टंडनजी ने इन प्रश्नों के जो उत्तर दिये थे, उसमें उनके हिन्दी सम्बंधी विचारों की बानगी मिलती है। मैं यहाँ उनके चार प्रश्न और टंडन जी के उत्तर उसी स्मारिका से साभार दे रहा हूँ।—सम्पादक]

प्रथम प्रश्न—क्या राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए संस्कृतनिष्ठ होना आवश्यक है ?

उत्तर—ऐसी कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। क्योंकि विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में संस्कृत का प्राचुर्य है, इसलिये यह स्वाभाविक है कि अधिकतर संस्कृत के ही शब्द राष्ट्रभाषा में हों।

द्वितीय प्रश्न—१४ सितम्बर, १९४९ को स्वतन्त्र भारत की संविधान सभा ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा तथा देवनागरी को राष्ट्रलिपि घोषित कर दिया है, किन्तु इतने वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी उक्त निश्चय कार्यान्वित नहीं हो सका है। इसका क्या कारण है ?

उत्तर—इसका मूल कारण है अंग्रेजी के प्रति कुछ भारतीयों का मोह, जो वस्तुतः भयजन्य है। उनका यह भय दोहरा है–एक तो यह कि जिस परिपक्व अवस्था के वे हैं, उसमें हिन्दी सीख पायेंगे या नहीं, इसका भय है; और दूसरे, अपनी बात जितने प्रभावशाली ढंग से वे अंग्रेजी में कह पाते हैं, उतनी हिन्दी में कह पायेंगे या नहीं, इसका भय है। हमारी सम्मति में उनके भय के दोनों कारण ठीक हैं। किन्तु यह स्थिति इस देश के पैंतीस करोड़ व्यक्तियों में से अधिक से अधिक पैंतीस हज़ार की है। अर्थात् दस हज़ार में केवल एक व्यक्ति की। विचार करने की बात है कि एक व्यक्ति अपने निजी भय से दस हज़ार के हृदय में स्वभाषा का गौरवपूर्ण भाव जाग्रत होने से रोक रहा है। यह कहाँ तक उचित है? और इससे भी महत्त्वपूर्ण विचारणीय बात यह है कि अपने भय के कारण अपने ही राष्ट्रीय संविधान का विरोध करके, स्वदेश के भावी कर्णधारों के सामने वह व्यक्ति एक ऐसा अदूरदर्शितापूर्ण आदर्श उपस्थित कर रहा है, जो पथभ्रष्ट तक कर सकता है। वस्तुतः संविधान समग्र राष्ट्र का निर्णय है, प्रान्त, वर्ग या भाषा विशेष के भाषियों का नहीं, और इसलिये उसका सम्मान करना भी समग्र राष्ट्र का कर्तव्य और दायित्व है। अपने ही संविधान की अवहेलना करके हम दूसरे राष्ट्रों की दृष्टि में उपहासास्पद ही बन सकते हैं, सम्मानित नहीं।

तीसरा प्रश्न—अहिन्दी भाषियों के मध्य हिन्दी का विकास और प्रचार-प्रसार कैसे हो सकता है?

उत्तर—हिन्दी सम्पूर्ण राष्ट्र की राष्ट्रभाषा है, किसी एक प्रदेश की नहीं। इसलिए हिन्दी के विकास और प्रचार-प्रसार के कार्य में प्रत्येक भारतीय का योगदान होना चाहिये। इसके साथ ही हिन्दी वालों को अपना दृष्टिकोण उदार बनाना चाहिए। वे केवल गंगा या यमुना के तट पर ही न भटकें वरन् गोदावरी और नर्मदा का भी अपनी रचनाओं में उल्लेख करें जिससे दक्षिण के लोग भी अपनत्व का अनुभव करें। हिन्दी में सभी

प्रदेशों के प्रचलित शब्दों का प्रयोग होना चाहिए जिससे वह सच्चे अर्थों में राष्ट्र की भाषा बन सके।

चौथा प्रश्न—क्या हिन्दी कभी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का रूप ले सकती है ?

उत्तर—रूप लेने का प्रश्न ही नहीं है। वह तो एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है ही। अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का अर्थ है वह भाषा जो विभिन्न देशों में सीखी और सिखायी जाये। भारत में हिन्दी जब से राष्ट्रभाषा घोषित हुई है तब से लगभग सभी प्रगतिशील और समुन्नत देशों में यह सीखी जाने लगी है। वास्तव में, हिन्दी तो विश्व की इनी-गिनी भाषाओं में से एक है। इस समय इसका स्थान चौथा है। पहला चीनी भाषा का, दूसरा रूसी भाषा का, तीसरा अंग्रेजी का और चौथा हिन्दी का ! किन्तु कुछ ही समय बाद यह उत्तर से दक्षिण तक सीख ली जायेगी तो हिन्दी विश्व की भाषाओं में अपना दूसरा स्थान बना लेगी। इसलिये हिन्दी अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है ही।

भाषा-नीति

डॉ० राम मनोहर लोहिया

भाषा के प्रश्न को आजादी के वाद वहुत तोड़ा-मरोड़ा गया है और हिन्दी व हिन्दुस्तान की कुछ अन्य भाषाओं के बीच एक नक़ली विरोध खड़ा कर दिया गया है। भाषा के प्रश्न को मोटे तौर पर मैं इस तरह समझता हूँ।

जव तक सरकारी कामों और हिन्दुस्तानियों के आपसी सम्वन्धों के लिए अंग्रेजी का प्रयोग होता रहेगा, एक सड़ी हुई वर्ग-राजनीति चलती रहेगी। समाजवाद की जन-राजनीति के लिए एक ऐसी भाषा आवश्यक है जो भविष्य में किसी समय देश के सभी लोगों द्वारा समझी जा सके। यह भाषा अंग्रेजी नहीं हो सकती। वर्ग-राजनीति के खतम होने पर अंग्रेजी भी अपने आप खतम हो जायेगी। इसमें कोई शक नहीं कि जर्मन या रूसी की तरह अंग्रेजी भी एक अच्छी भाषा है और देश में भाषाओं के विद्वान, खास तौर पर वे लोग जिनका काम अनुवाद करना है, उसे पढ़ते रहेंगे।

इस देश में राजनीति अधिकतर मध्यम वर्ग की है। मध्यम वर्ग की अधिकांश राजनीति सरकारी नौकरी की होती है। राष्ट्र-भाषा के सवाल को सरकारी नौकरी से मिलाकर विगाड़ दिया गया है।

मेरा खयाल कि हिन्दीभाषी लोग जब उसका अधिक प्रयोग करने की वकालत करते हैं तो वे उम्मीद करते हैं कि सरकारी नौकरियों में उन्हें ज्यादा और अच्छी जगह मिलेगी और दूसरी भाषाएँ बोलने वालों को भय है कि हिन्दी के सरकारी भाषा वन जाने पर उन्हें सरकारी नौकरियों में कम जगह मिलेगी और वे हिन्दी बोलनेवालों का मुकाबला नहीं कर सकेंगे।

हिन्दी को सरकारी भाषा बनाने के काम को १५ वर्षों के लिए रोक कर, जिसमें से ६ या ७ वर्ष बीत चुके हैं, सवाल को

और भी बिगाड़ दिया गया है। इससे बड़ी शर्म की बात कोई और नहीं हो सकती कि देश में कुछ लोग हिन्दी के बजाय अंग्रेजी में बात सुनना ज्यादा पसन्द करते हैं। मुझे यह कहने की जरूरत नहीं कि अंग्रेजी की तारीफ करने वाले अधिकांश लोग उस भाषा को समझते नहीं। और तारीफ सिर्फ इसलिए करते हैं कि यह सवाल कुछ अन्य सवालों के साथ जुड़ गया है। इस सवाल को आसानी से हल किया जा सकता था। हल उतना ही सादा है जितना क्रान्तिकारी। दस साल के लिए हिन्दीभाषी लोगों के केन्द्रीय सरकार की नौकरियों में जाने पर रोक लगा देनी चाहिए थी। इसके साथ ही हिन्दी को फौरन ही राजभाषा बना देना चाहिए था। केवल अहिन्दी-भाषी लोग ही नौकरियों में जा सकते, सिवाय पलटन के, लेकिन उन्हें हिन्दी में ही परीक्षा देनी पड़ती और हिन्दी में ही अपना काम करना पड़ता।

मुझसे कहा गया है कि यह हिन्दीभाषी मध्यम वर्ग के साथ अन्याय होता। मैं इस तरह के फजूल तर्क को नहीं समझ पाता, जो राष्ट्र को ही तोड़ता है। क्या हमें हमेशा कुछ हजार लोगों का ही ध्यान रखना चाहिए, चाहे उससे कई करोड़ अन्य लोगों को बहुत नुकसान पहुँचता हो? उदाहरण के लिए, उत्तर प्रदेश में मेरी इस सिफारिश से मध्यम वर्ग के कुछ हजार लोगों का कुछ नुकसान हुआ होता, लेकिन वहाँ की छः करोड़ जनता को सारी ३७ करोड़ जनता के समान ही लाभ हुआ होता।

हिन्दी, और अगर किसी की मातृभाषा भिन्न हो तो उसका इस्तेमाल किये बिना हिन्दुस्तान के लोगों में कभी प्रतिष्ठा, व्यक्तित्व और आत्मसम्मान के गुण नहीं आ सकते। उदाहरण के लिए, मुझे कोई शक नहीं कि तमिलनाडु में सरकारी काम और बोलचाल के लिए फौरन तामिल का प्रयोग शुरू कर देना चाहिए। युनि-वर्सिटियों में उच्च शिक्षा और हाई कोर्टों का काम सारे देश में हिन्दी में होना चाहिए। राज्य विधान सभाओं में राष्ट्रभाषा में बोलने की छूट होनी चाहिए।

राज्य की भाषाओं और हिन्दी का समर्थन करते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि दिमाग भाषा से जकड़ न जाये। बहुत से लोग, खास कर मध्यम वर्ग के, समझते हैं कि एक भाषा से प्रेम करने का अर्थ है, दूसरी भाषा को नष्ट करना। यह बड़ा ही विवेक-हीन और आत्मनाशी विचार है। उदाहरण के लिए कौन-सा व्यक्ति कौन-सी भाषा बोलनेवाला है, इसका कभी विचार ही नहीं करना चाहिए। जनता और ऊँचे सरकारी अफसरों को सभी भाषाएँ बोलने-वाले हिन्दुस्तान के अलग-अलग लोगों को समान दृष्टि से देखना चाहिए। प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालय, लोग अपने-अपने क्षेत्रों की अलग-अलग भाषाओं में चलायें, इसकी न सिर्फ अनुमति होनी चाहिए बल्कि इसे प्रोत्साहित करना चाहिए।

भाषा मिला भी सकती है और अलग भी कर सकती है। इतिहास के अलग-अलग कालों में भाषा ने अलग-अलग काम किये हैं। एक अपूर्व जड़ता, जिसका और कोई कारण नहीं दिखाई देता सिवाय इसके कि हिन्दुस्तान की अधिकांश राजनीति मध्यम वर्गों की है, इस समय भाषा को अलगाव का साधन बना रही है।

हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए विदेशी शब्दों को लेने के सिद्धान्त

डॉ० सम्पूर्णानन्द

फिर भी परिस्थिति को समझ तो लेना ही चाहिए। सरकार की हिन्दी और नागरी पर कभी कृपा नहीं रही। जिस लिपि को कोटि-कोटि भारतवासी अपनी पवित्र लिपि मानते हैं उसको भारत की मुख्य मुद्रा—रुपये—पर स्थान प्राप्त नहीं है। आप उसे रुपये के नोट पर न पायेंगे। सरकार का रेडियो विभाग तो हिन्दी के पीछे हाथ धोकर पड़ा है। कहने को तो वह अपने को हिन्दी-उर्दू से अलग रख कर हिन्दुस्तानी को अपनी भाषा मानता है, पर उसकी हिन्दुस्तानी उर्दू का ही नामान्तर है। मैंने शिकायतें सुनी हैं कि टॉक्स में संस्कृत के तत्सम शब्दों पर कलम चला दी जाती है। यह हो या न हो, उसकी हिन्दुस्तानी के उदाहरण तो हम नित्य ही सुनते हैं। यदि 'मृग' जैसा शब्द भी आ गया तो 'यानी हिरन' कहने की आवश्यकता पड़ती है, पर 'शफ़क़', 'तसव्वुर', 'पेशकश', 'तखय्युल' जैसे शब्द सरल और सुबोध माने जाते हैं। रेडियो विभाग समझता है कि साधारणतया हिन्दू-मुसलमानों के घर यही बोली बोली जाती है। रेडियो का 'अनाउंसर' कभी नमस्कार नहीं करता, उसकी संस्कृति में 'आदाब अर्ज़' ही करना शिष्टाचार है। संस्कृत शब्दों के शुद्ध उच्चारण न करने की तो शपथ खा ली गयी है। नामों तक की दुर्गति कर दी जाती है। आचारिया, बिकरमाजीत, इन्दर, यह सब तो इनके बायें हाथ के खेल हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सरकार ने हिन्दी भाषा को बिगाड़ने और जनता में उस संस्कृति का, जिसकी यह भाषा प्रतीक है, विकृत रूप उपस्थित करने के लिए ही इनको नौकर रख छोड़ा है। हिन्दू त्योहारों पर अरबी-फारसी शब्दों से लदी ऐसी भाषा में भाषण सुनने में आये हैं कि कुछ कहा नहीं जाता। इन भाषणों को देने वाले हिन्दू भी होते हैं; स्यात् इनका चुनाव ऐसी बोली बोल सकने की योग्यता के ही कारण होता है। हमको इस

ओर सतर्क रहना है। जो लोग रेडियो सुनते हैं उनको संगठित होना चाहिये। मुझे यह जानकर हर्ष होता है कि लखनऊ में एक लिसनर्स असोसिएशन स्थापित हुआ है और 'आकाशवाणी' नाम की पत्रिका भी निकाली गयी है। केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के सदस्यों को सरकार पर दबाव डालना चाहिये और हिन्दी पत्रों को भी इस ओर ध्यान देना चाहिये।

मेरे मित्र पं० कालीदास चतुर्वेदी ने मेरा ध्यान उस आदेश की ओर आकर्षित किया है जो बुन्देलखण्ड और युक्तप्रान्त में जनगणना करने वालों को दिया गया है। उनसे कहा गया है कि यदि कोई हिन्दी या उर्दू को अपनी मातृभाषा बतलाये तो तुम हिन्दुस्तानी लिखो। देखने में तो इसमें अकेले हिन्दी के विरुद्ध कोई बात नहीं है, पर जहाँ पंजाब और हैदराबाद जैसे प्रदेशों में उर्दू बोलनेवालों की संख्या लिखी जाय वहाँ ऐसे प्रान्तों में जिनकी भाषा हिन्दी है, हिन्दी का नाम न लिखा जाना उर्दू के साथ खुला पक्षपात है। मुझे बतलाया गया है कि यह बात १९२१ से होने लगी है। मैं नहीं कह सकता कि पहले इसका विरोध किया गया या नहीं। अब समय थोड़ा रह गया है, फिर भी इसके लिए पूरा आन्दोलन करना चाहिये।

अब मैं हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता हूँ। मेरी निजी सम्मति से आप अपरिचित नहीं हैं। आप में से बहुतों ने वह पत्रव्यवहार देखा है जो पारसाल मुझमें और महात्माजी में हुआ था। मेरा अब भी विश्वास है कि मैंने जो सम्मति प्रकट की थी वह समीचीन है। हमारी भाषा का नाम हिन्दी उसे कतिपय मुसलमान लेखकों ने दिया, पर हमने इसे अपना लिया। यह नाम हमको प्यारा है, और इसमें साम्प्रदायिक या अन्य किसी प्रकार का दोष नहीं है। इसे उर्दू नाम से पुकारने का कोई कारण नहीं है। पृथ्वी पर भारत ही तो एक देश नहीं है। दूसरी जगहों में भाषा का नाम देश के नाम पर होता है। फ्रांसीसी, अंग्रेजी, जापानी, अरबी, ईरानी—यह सब नाम देशों से सम्बन्ध रखते हैं। हिन्दी भी ऐसा ही नाम है पर उर्दू में यह बात नहीं है। यह नाम इस देश के नाम से सम्बन्ध नहीं रखता। अब यह प्रश्न उठाया जाता

है कि राष्ट्रभाषा को न हिन्दी कहा जाय न उर्दू, प्रत्युत हिन्दुस्तानी नाम से पुकारा जाय। मैं स्वयं तो उन लोगों में हूँ जो इस वात को मानने को प्रस्तुत हैं। यदि हिन्दुस्तानी कहने भर से काम चल जाय तो यह समझौता बुरा नहीं है। यह देश हिन्दुस्तान भी कहलाता ही है पर मुख्य प्रश्न नाम का नहीं, भाषा के स्वरूप का है। विवाद ऊपर से भले ही नाम के लिए किया जाता हो, पर उसके भीतर भाषा के स्वरूप का विवाद छिपा है। इस बात को समझ कर हमको अपना मत स्पष्ट कर देना है।

हिन्दी (या वह हिन्दुस्तानी जिसकी मैं कल्पना करता हूँ) जीवित भाषा है और रहेगी। वह मुट्ठी भर पढ़े-लिखों तक ही परिसीमित न रहेगी। उसके द्वारा राष्ट्र के हृदय और मस्तिष्क का अभिव्यंजन होना है। उसको दार्शनिक विचारों, वैज्ञानिक तथ्यों और हृद्गत भावों के व्यक्त करने का साधन बनना है। हमको भारत के वाहर से आये हुए शब्दों का प्रयोग करने में कोई लज्जा नहीं है। अरबी, फारसी के सैकड़ों शब्द बोले जाते हैं, लिखे जाते हैं। यह बात आज से नहीं, चन्दबरदाई और पृथ्वीराज के समय से चली आ रही है। सूर, तुलसी, कबीर, रहीम, सबने ही ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है। अंग्रेजी के शब्दों को भी हमने अपनाया है। योगी को सुषुम्ना नाड़ी में प्राण ले जाने पर जिस दिव्य ज्योति की अनुभूति होती है उसका वर्णन करते हुए आज से दो सौ वर्ष पहले चरणदासजी ने लिखा था 'सुखमना सेज पर लम्प दमकै'। यह शब्द चाहे जहाँ से आये हों हमारे हैं। आगे भी जो ऐसे शब्द आते जायँगे वह हमारे होंगे। हम उनको हठात् कृत्रिम प्रकार से नहीं लेंगे। वह आप भाषा में अपने बल से मिल जायँगे। पर उनके आ जाने पर भी भाषा हिन्दी ही है और रहेगी। जिस प्रकार पचा हुआ भोजन शरीर का अविभाज्य अङ्ग हो जाता है उसी प्रकार वह हिन्दी के अङ्ग हैं और होंगे। उनकी पृथक् सत्ता चली जायगी। जीवित भाषाएँ ऐसा ही करती हैं। हम संस्कृत के शब्दों को भी इसी प्रकार अपनाते हैं, उनको हिन्दी शब्द वना लेते हैं। इसका वड़ा प्रमाण यह है कि वे हिन्दी में आने पर संस्कृत के व्याकरण को छोड़ देते हैं, हिन्दी

व्याकरण के अधीन हो जाते हैं। राजा का वहुवचन राज़ान:, भुवन का भुवनानि, स्त्री का स्त्रिय: नहीं किया जाता। कोई लेखक ऐसे प्रयोग करने का दु:साहस नहीं करता। संस्कृत व्याकरण के विरुद्ध होते हुए भी 'अन्तर्राष्ट्रीय' हिन्दी में व्यवहृत है। मैंने शुद्ध रूप चलाना चाहा पर सफल न हुआ। पर शुद्ध उर्दू लेखक सुलतान का वहुवचन सलातीन, मुल्क का मुमालिक, ख़ातून का ख़वातीन लिखता है। यह शब्द अपना विदेशीपन नहीं छोड़ते और इन्हीं विदेशीपन के अभिमान से भरे हुए शब्दों में उर्दू का उर्दूपन है, अन्यथा क्रिया, सर्वनाम, उपसर्ग, अव्यय—वह सव शब्द जो भाषा के प्राण हैं—हिन्दी उर्दू में एक ही हैं। हम ऐसी कृत्रिम भाषा को, जो जनता में फैल ही नहीं सकती, हिन्दी या हिन्दुस्तानी नहीं मान सकते। वह हमारे किसी काम की न होगी। मैं फिर कहता हूँ कि हमको अरबी-फारसी के शब्दों से चिढ़ नहीं है। गुजराती, मराठी, बंगला सवमें ऐसे शब्द हैं। ऐसे वहुत से घराने हैं जिनके यहाँ पूजापाठ में, विवाहादि उत्सवों में, अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग होता है। विना वनावट के उनके मुँह से ऐसे शब्द निकल जाते हैं। यह नहीं हो सकता कि आज यकायक एक वेदपाठी ब्राह्मण और एक हाफ़िज़ की भाषा में पूर्णतया साम्य हो। पर जो स्वाभाविक वैषम्य होगा उससे हमारी कोई हानि नहीं होती। हम तो कृत्रिम भाषा के, जिसमें व्यर्थ अरबी-फारसी शब्द ठूँसे जाते हैं, विरुद्ध हैं। मेरा तो यह विश्वास है कि यदि हमारी भाषा में स्वाभाविक प्रकार से एक ही अर्थ के द्योतक दो-तीन शब्द—एक संस्कृत का, एक अरबी या फ़ारसी का—आ जायँ तो उससे भाषा का भण्डार भरता है और वाङ्मय में सुन्दरता आती है। अंग्रेजी को लीजिये। एक ही अर्थ में क्वेरी, क्वेश्चन, इण्टरोगेशन, इन्टर्पेलेशन जैसे शब्द आते हैं। इनमें क्रमश: थोड़ा-सा सूक्ष्म प्रयोगभेद हो गया है। ऐसा हमारे यहाँ भी क्यों न हो? एक अर्थ में वार-वार एक ही शब्द क्यों प्रयुक्त हो?

पर इसके साथ ही एक और वात भी स्पष्ट हो जानी चाहिये। हम प्रचलित शब्दों को निकालना नहीं चाहते। जो नये शब्द स्वाभाविक रूप से पूर्णतया हमारे वनकर आ जायँगे हम उनको भी

अपनायेंगे। जो बर्ताव तुर्कों ने अरबी के साथ किया हम उसका अनुकरण नहीं करना चाहते। परन्तु यह भी निश्चित है कि हमारी भाषा में अधिकतर स्वदेशी अर्थात् संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द रहेंगे। यदि इस भाषा को राष्ट्रभाषा कहना है, यदि इसको सीमाप्रांत ही नहीं वरन् बंगाल और गुजरात, महाराष्ट्र और मलाबार में भी बरता जाना है तो न केवल वाङ्मय प्रत्युत साधारण बोलचाल और लिखावट में भी इस सिद्धान्त को मान लेना होगा। दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

देश के लिए एक भाषा प्राप्त करने का अधिकार

पण्डित अमृतलाल चक्रवर्ती

भारतवर्ष के मनुष्य अपने को एक ही देश के निवासी कहते और मानते हैं। किन्तु एक ही देश के निवासी कहलाने के इस सर्वप्रधान लक्षण से वे सर्वथा वंचित हैं कि वे एक ही भाषा बोलें और उसके सहारे अनायास ही परस्पर अपने-अपने मन के भावों को समझावें। इसके बदले वे अनेकानेक गुटों में बैठकर परस्पर न समझनेवाली इतनी न्यारी-न्यारी भाषाएँ और बोलियाँ बोलते हैं कि केवल भूगोल की दृष्टि से एक ही देश के निवासी होने पर भी वे वास्तव में उतने ही देशों के निवासी कहलाने योग्य हैं, जितने उक्त गुटों में वे बँटे हुए हैं। अब से कोई आधी सदी पहले उक्त अलग-अलग गुटों के कतिपय भारतीय धीमान अंग्रेजी भाषा बोलने और उसके सहारे अपनी उस छोटी-सी मण्डली के बीच परस्पर अपने-अपने मन के भावों को समझाने की शक्ति-लाभ कर यह आशा करने लगे कि अपनी उस छोटी-सी मण्डली के आन्दोलन से ही वे सम्पूर्ण भारतवासियों के लिए मनुष्यमात्र के वास्तविक जन्म-अधिकार प्राप्त कर लेंगे। किन्तु अपने किसी अधिकार को पाने के लिए मनुष्य को यह जानना होता है कि उसका वह अधिकार क्या है, कैसा है और किस प्रकार से मिल सकता है। तदनन्तर तदनुसार उद्योग करने से ही मनुष्य अपने उस अधिकार को पा सकता है, नहीं तो अपने उस अधिकार को पाने का वास्तविक अधिकारी ही वह नहीं होता। इसके बिना अपने जन्म-अधिकार को भी वह पाने का और भोगने का अधिकारी नहीं होता। उस छोटी-सी अंग्रेज़ी बोलनेवाली मंडली के महानुभाव उद्योगकारियों ने उस अटल सत्य का अनुभव करने का कोई आभास न दिया। सब भारत के निवासियों के आगे उनके जन्म-अधिकार के भेदों को खोले बिना, सब भारतवासियों के हृदय में उनके जन्म-अधिकार प्राप्त करने का उत्तेजन भरे बिना, उनको

अपने जन्म-अधिकार पाने का अधिकारी बनायें बिना और सब भारतवासियों के उद्यम को अपने उद्यम के साथ संयुक्त कराये बिना वे केवल अपने ही उद्योग से सब भारतवासियों को उनका जन्म-अधिकार दिलाने के लिए जूझ पड़े । उनका यह उद्योग मानों इस प्रकार का हुआ कि फल के कल्पवृक्ष को लगाये बिना वे फल खाने और खिलाने के लिए डट गये । इसका फल भी यह हुआ है कि जिस समय के अन्दर भारत का पड़ोसी जापान "असभ्यता" की बदनामी से बचकर जगत् की ज्योतिर्मय जातियों की पंक्ति में आसन पा गया है, उस समय के अन्दर उन मान्य नेताओं की निष्फल चेष्टाओं के बीच भारत अपने प्राचीन से प्राचीन समुज्ज्वल इतिहास को लेकर अब तक उसी घने अंधेरे में अघा रहा है, जिसमें इन चेष्टाओं के पूर्व वह नखशिख निमग्न था । अवश्य ही उन महानुभाव नेताओं में अपनी चेष्टा के प्रारम्भ में यह सामर्थ्य न थी कि वे अपने ऊँचे मन के मनोहर भावों को तीस-बत्तीस करोड़ भारतवासियों में प्रचार करते और यह कहने का साहस मुझमें नहीं है कि अनेकानेक भाषाओं और बोलियों के दुर्भेद्य जाल में भारतवासियों के फँसे रहने की विकराल स्थिति के आतङ्क ने उनके अनुभवी हृदय को उथल-पुथल नहीं किया था । पर भारतवासियों को कोई ऐसी भाषा सिखलाने का बीज भी उन्होंने डालने का यत्न नहीं किया, जिसके सहारे भारत के निवासी परस्पर अपने-अपने मन के भावों को समझाने की शक्ति-लाभ कर अपनी उस विषम जड़ता की भयङ्कर स्थिति से पार पा जाते । यदि हमारे मान्य नेता अपनी चेष्टा के प्रारम्भ में इस यत्न को करने और एक इसी यत्न के पीछे अपने समूचे उद्यम और उद्योगों को लगा दें तो उन पुरुषसिंहों के लगभग पचास वर्ष के एकाग्र प्रयत्न के फल से आज भारत जिस समुज्ज्वल स्थिति में आ पहुँचता, उसकी कल्पना तक करने से कलेवर रोमाञ्चित हो आता है । सब भारतवासी कोई एक भाषा बोलते और समझते, हमारे नेता सब भारतवासियों को अपने ऊँचे मन के महद्भाव अनायास ही समझाते रहते, सब भारतवासियों के हृदय में महान भाव की जाह्नवी-धारा प्रवाहित होती, बत्तीस करोड़ नर-नारियों का हृदय एक ही प्रकार भाव के सूत्र से बँधकर एक हो

जाता। क्या जगत् में ऐसी शक्ति है जो इस विराट जनसंघ के भाव के एकतरफा सोते को कोई दीवार उठाकर रोक देती।

पर यह तो केवल मनमोदक है। कल्पना ही कल्पना के निरर्थक ऊहापोह से बचकर वास्तविक घटना पर लौट आने से यह दिखलायी देता है कि प्रति वर्ष वृद्धिशील नेताओं के समाज के कतिपय महोदयों ने कुछ वर्षों से इस सत्य को हृदयङ्गम किया है कि सब भारतवासियों को एक ऐसी भाषा सिखलानी चाहिये, जिसको वे सुख से बोलकर और मजे में समझकर जिसके सहारे अपने-अपने मन के भावों को परस्पर अनायास ही विदित कर सकें। उन थोड़े से नेताओं को यह अनुभव भी हुआ है कि सब भारतवासियों को सिखलाने की वह एक भाषा न तो भारत के बाहर की कोई भी भाषा हो सकती है और न होनी ही चाहिये तथा वह भाषा भारत की प्रान्तीय भाषाओं में से एक हिन्दी को छोड़कर कोई दूसरी नहीं हो सकती; क्योंकि भारत की विभिन्न भाषाओं में से हिन्दी सबसे अधिक, बारह-तेरह करोड़ मनुष्यों में बोली जाती है। हिन्दी जिन भारतवासियों की मातृभाषा नहीं है, उनमें से भी इतने अधिक मनुष्यों से किसी न किसी प्रकार से बोली और समझी जाती है, जितने अपनी मातृभाषा को छोड़कर भारत की प्रान्तीय भाषाओं में से किसी दूसरी को नहीं बोल सकते और नहीं समझ सकते। इन गुणों के उपरान्त हिन्दी भाषा में बड़े ही मार्के का यह महद्गुण भी है कि यह इतने थोड़े दिनों के अभ्यास से किसी न किसी प्रकार से उसके एक बार ही न जाननेवालों से भी बोली और समझी जाती है, जितने अभ्यास से बोली और समझी जाने का दावा पृथिवी की कोई भी दूसरी भाषा नहीं कर सकती। इसी से विदेशीय लोग भारत में आकर चाहे जिस किसी प्रान्त में क्यों न वसें, थोड़े दिनों में किसी न किसी प्रकार से हिन्दी में ही अपने मन के भावों को समझाने लगते हैं। हिन्दी की इस प्रकार समुज्ज्वल गुणावली को प्रत्यक्ष कर भारत के कतिपय ऐसे नेताओं ने भी, जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है, यह अभिमत प्रकट किया है कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा होने योग्य है और होनी

चाहिए, किन्तु इस विषय में हिन्दी मातृभाषा-भाषियों का हाथ बँटाने में यदि उनमें से एक-दो महात्माओं को छोड़कर और किसी नेता ने वास्तविक उद्यम किया हो, तो मैं नहीं जानता । सत्य यह है कि जब राष्ट्रभाषा की अनिवार्य आवश्यकता विदित हुई है और जव एक हिन्दी ही अपनी विरल गुणावली से उस अत्यावश्यकता को सिद्ध करने की पूरी-पूरी शक्ति रखनेवाली प्रमाणित हुई है तो भारत के विभिन्न प्रान्तों के नेताओं को जिस एकाग्र उद्यम के साथ अपने-अपने प्रान्त में हिन्दी का प्रचार करने के लिए उद्यम करना चाहिए था, वह अभी तक बहुत थोड़े ही महोदयों ने किया है । अवश्य ही हिन्दी मातृभाषा-भाषियों की सहायता के विना कहीं भी हिन्दी का प्रचार नहीं हो सकता । किन्तु भिन्न भाषाभाषी प्रान्तों में स्थानीय नेताओं को जहाँ हिन्दी के प्रचार के लिए अव से कितने ही पहले स्वयं उद्यत होकर अपनी सहायता पर हिन्दी मातृभाषा-भाषियों को बुलाना चाहिए था, वहाँ हिन्दी मातृभाषा-भाषी आप उद्यत होकर भी अभी तक सव नेताओं की पूरी सहायता नहीं पा सके हैं । पचास वर्ष निष्फलप्राय राजनीतिक उद्यम को सफलीभूत करने के सर्वप्रधान उपाय पर अपने मान्य नेताओं की इस शिथिलता को जव मैं विचारता हूँ तो मेरे हृदय के कोने-कोने में असह्य खेद उमड़ आता है । सोलह वर्ष से जिस सहायता को देने के लिए हिन्दी मातृभाषा-भाषी स्वयं जागकर अपने पड़ोसियों को जगाना चाह रहे हैं, उस सहायता को लेने के लिए अव भी तो सव भारतवासियों को जगना चाहिए ।

भारत के प्रत्येक प्रान्त के प्रमुखों का जिस अत्यावश्यक विषय पर ध्यान पड़ना अवसे कितने ही पहले सर्वथा उचित था, उस पर कम से कम अवसे उनका पूरा-पूरा आग्रह प्रकट होना परम आवश्यक है । इसीलिए हिन्दी साहित्य सम्मेलन की कार्यावली के अन्तर्गत इसी विषय का सर्वप्रथम उल्लेख करने में प्रवृत्त हुआ हूँ । हिन्दी साहित्य सम्मेलन को भारतवर्ष की अन्यान्य प्रान्तीय साहित्य परिषदों के जोड़ का केवल प्रान्तीय साहित्य की श्रीवृद्धि का प्रान्तीय सम्मेलन नहीं रहने देना चाहिए । सर्वभारत के अभ्युदय का जव यह बेजोड़

समारोह है तो भारतवर्ष-भर के विद्वानों के समागम और सहानुभूति से इसका परिपुष्ट होना अपार आवश्यक है। हिन्दी मेरी मातृभाषा न होने से मैं निस्संकोच चित्त से कहता हूँ कि हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अखिल भारतवर्षीय स्वरूप को समुज्ज्वल करने के संकल्प से विभिन्न प्रान्तों के विद्वान प्रमुख थोड़े ही दिनों में अपनी हिन्दी भाषा की अनभिज्ञता को दूर कर सम्मेलन के विचारों को अपनी विज्ञता के अभिमतों का वल पहुँचा सकते हैं। वे जितनी ही अधिक संख्या में समुपस्थित होकर सम्मेलन के वल को वढ़ावेंगे, उतना ही अधिक प्रभाव अपने-अपने प्रान्त में हिन्दी के प्रचार के लिए डालेंगे। आगे वे प्रत्येक प्रान्त के नेता परस्पर परामर्श कर जिस पद्धति से अपने प्रान्त-भर में हिन्दी का प्रचार कर सकेंगे, उसका विस्तार के साथ वर्णन करना अनावश्यक है। यदि प्रत्येक नगर के हर एक मुहल्ले में तथा प्रत्येक ग्राम में कई-कई मनुष्य हिन्दी भाषा में निरंतर सबके आगे बातें करते रहें, तो इसके फल से और कोई नहीं तो अपनी तुतली बोली में शव्द रटते हुए वच्चे निश्चित ही उमर पाकर हिन्दी बोलने और समझने लग जायँगे। कितने ही विद्वान पुरुष भी यह कहते सुने जाते हैं कि जहाँ एक ही भाषा सिखलानी कठिन है, वहाँ अधिक भाषा सिखलाने के चक्कर में डालकर देश के होनहारों की मिट्टी पलीत की जायेगी, तो वे किसी भी भाषा के सहारे असली विद्या नहीं सीख पावेंगे। ऐसा कहनेवाले महाशय निश्चित ही पुस्तक पढ़ाकर भाषा सिखलाने के आतंक से घबड़ाते होंगे। पुस्तक पढ़ाकर संपूर्ण भारतवासियों को हिन्दी सिखलानी हो, तो उस प्रकार आतंक का यथेष्ट कारण अवश्य ही है। किन्तु मैं तो पुस्तक का नाम भी नहीं ले रहा हूँ। बम्बई प्रान्त में, जहाँ मराठी और गुजराती दोनों भाषाएँ प्रचलित हैं, हर एक वच्चा जैसे मराठी सुन-सुनकर बोलता और समझता है वैसे ही गुजराती भी। बचपन में इन दोनों भाषाओं के बोलने और समझने में पूरे-पूरे अभ्यस्त हो कर के भी किसी भी मराठी या गुजराती बोलनेवाले बालक के मगज की मिट्टी पलीत नहीं होती। वहाँ के विद्यार्थी उन दोनों भाषाओं के बोलने और समझने में धुरंधर हो कर के भी आगे अंग्रेजी सीखकर उसके सहारे नाना विद्याओं में वैसे ही प्रवीण होते हैं, जैसे अन्य किसी

भारतीय प्रान्त के एक ही मातृभाषा बोलने और समझनेवाले विद्यार्थी। इसलिए इस पद्धति से भारत के हर एक हिन्दी-रहित प्रांत में हिन्दी का प्रचार करने से आवश्यक हिन्दी का प्रचार हो जायगा और किसी की कोई क्षति भी न हो पायेगी। पचास वर्ष पहले जिस उद्योग को करने से आज दिन भारत अमृत का उपभोग करता, उसकी नींव अब भी डालने का अनुरोध मैं स्वदेश के मान्य नेताओं के आगे अपने समूचे वल से करता हूँ।

राष्ट्रभाषा हिन्दी

श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर

यह राष्ट्रीयता का युग है—वह राष्ट्रीयता जिसके बिना कोई देश, कोई जाति, कोई कौम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना उचित पद पा ही नहीं सकती। राष्ट्रीयता की एक शर्त यह है कि उसकी एक भाषा हो। यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्रभाषा सबकी मातृभाषा हो। राष्ट्र के अवयवभूत लोगों में बहुजन उसे समझें और उसके द्वारा शासन, व्यापार आदि कार्य करें तो वह राष्ट्रभाषा हो सकती है। मातृभाषा भी राष्ट्रभाषा होती है, पर वह राष्ट्र छोटे होते हैं तथा उसके अवयवभूत सब लोग वही भाषा घर में भी बोलते हैं। भारत अति विशाल देश है तथा इसमें संस्कृत से सम्बद्ध अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। इनके सिवा अनेक अनार्य भाषाएँ भी बहु-संख्यक लोगों की मातृभाषाएँ हैं। अतः यहाँ की राष्ट्रभाषा किसी एक समूह की मातृभाषा नहीं हो सकती, बल्कि वही भाषा राष्ट्र-भाषा का पद ग्रहण कर सकती है जो हिमाचल से कन्याकुमारी तक सर्वत्र अल्पाधिक परिमाण में बोली या समझी जाती और अल्प आयास में सीखी जा सकती हो। वह भाषा हिन्दी ही है और हिन्दी ही हो सकती है। मैं हिन्दी-उर्दू के मूल-सम्बन्धी झगड़े में यहाँ पड़ना नहीं चाहता, पर इतना कहूँगा कि उर्दू के भी आधारभूत (बेसिक) शब्द जिस भाषा के हैं वह भाषा हिन्दी है। हिन्दी नाम उस भाषा का तब था जब उर्दू नाम की कल्पना भी नहीं हुई थी। हिन्दुस्तानी नाम तो हाल का है और इसका प्रयोग संकुचित अर्थ में ही किया जाता रहा है। स्वर्गीय पंडित पद्मसिंह शर्मा कहते हैं—"उन लोगों का मतलब हिन्दुस्तानी से उस ज़बान से था, जिसे उत्तर भारत के युक्त प्रदेश और अन्तर्वेद (दोआब) के लोग और दिल्ली, मेरठ, आगरा आदि के रहनेवाले मुसलमान बोलते थे, और जो दक्षिण के मुसलमानों में भी प्रचलित हो गयी थी। जो मतलब इस समय आम तौर से उर्दू का समझा जाता है, वही मुराद इस हिन्दु-

स्तानी से थी--अर्थात् हिन्दी भाषा का वह रूप जिसमें विदेशी भाषाओं के शब्द अधिक हों।" *आजकल भी हिन्दुस्तानी से हमारे उर्दू-प्रेमी भाई उर्दू ही समझते हैं और इसमें से चुन-चुन कर संस्कृत तत्सम शब्द और अधिक से अधिक तद्भव शब्द भी निकाल डालने पर तुले हुए हैं। यह प्रवृत्ति यदि केवल हिन्दी-द्वेषियों और अरबी-फ़ारसी के प्रेमियों में ही पायी जाती तो हम इसका विरोध न करते पर अत्यन्त खेद के साथ कहना पड़ता है कि सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता मौलाना अबुल कलाम आज़ाद के प्रमाण-पत्र के साथ जिस भाषा का प्रचार राष्ट्रभाषा के रूप में किया जाने लगा है उसमें से भी हिन्दी के प्रचलित शब्द निकाले जाने और अरबी के चलाये जाने लगे हैं। हाल में दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा द्वारा मद्रास में 'हिन्दुस्तानी की पहली किताब' प्रकाशित हुई है। पुस्तक के आरम्भ में मद्रास प्रान्त के प्रधान मंत्री के नाम लिखा हुआ मौलाना अबुल कलाम आज़ाद का अंग्रेजी पत्र छपा है जिसमें आप फर्माते हैं कि इस पुस्तक में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह वास्तव में उस भाषा का नमूना है जिसे सर्वप्रान्तीय भाषा बनने का स्वाभाविक अधिकार है। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद जिसे सर्वप्रान्तीय या राष्ट्रीय भाषा बनने की अधिकारिणी समझते हैं वही यदि 'हिन्दुस्तानी' है तो मैं निःसन्दिग्ध चित्त से साहित्य सम्मेलन को सलाह दूँगा कि निर्भीकता के साथ स्पष्ट शब्दों में वह इसका विरोध करे। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के वैशाख सम्वत् १९९५ के अंक में मेरे मित्र श्री रामचन्द्र वर्मा ने बड़ी योग्यता के साथ इसकी समीक्षा की है और मैं इसका समर्थन करता हूँ। वर्माजी कहते हैं--इस 'पुस्तक में हिन्दी भाषा के शब्द अपेक्षाकृत बहुत ही कम हैं और अरबी-फ़ारसी शब्दों की भरमार है। उदाहरणार्थ, पुस्तक के सातवें पृष्ठ पर अकरम, ज़मज़म, अग़मत आदि अरबी के ऐसे विकट शब्द आये हैं जिनका मतलब शायद मद्रास के बड़े-बड़े मुल्ला भी न समझते होंगे। और इसी तरह के शब्दों से युक्त हिन्दुस्तानी भाषा के सम्बन्ध

---

*'हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी', हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू०पी०, द्वारा इलाहाबाद से प्रकाशित; पृ० २९-३०।

में पुस्तक के आरम्भ में 'बच्चों से' कहा गया है--"यह हमारे देश के करोड़ों आदमियों की ज़बान है और थोड़े दिनों में देश के सारे लोग इसे समझेंगे।.........इससे आपस का मेलजोल और बढ़ेगा।" अरबी और फारसी के मुश्किल से मुश्किल शब्द तो इसमें बिल्कुल शुद्धरूप में रखे गये हैं, लेकिन संस्कृत के सीधे-सादे 'अमृत' शब्द के भी हाथ-पैर तोड़ कर उसे 'अमरत' बना दिया गया है। पृष्ठ ३७ में आया है--"रामदास ने भी दादी से कहा--दादी-बी, नमस्ते।" यह है भाषा के नाम पर संस्कृति की हत्या।" केवल शब्द ही नहीं, इस पुस्तक के वाक्यों की रचना भी उर्दू है हिन्दी नहीं, और इसको प्रकाशित किया है दक्षिण भारत हिन्दी-प्रचार-सभा ने। मेरा खयाल है कि सभा इस मामले में राजनीतिक दबाव में पड़ गयी है। हिन्दुस्तानी नाम की जिस भाषा का प्रचार मद्रास सरकार अपने स्कूलों में करने जा रही है उसके सम्बन्ध में उर्दू के अभिमानियों को सन्तुष्ट रखना ही प्रचारकों का मुख्य उद्देश्य मालूम होता है। एक क्षुद्र कांग्रेस-जन के ही नाते मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि कांग्रेस में यह प्रवृत्ति बहुत बढ़ गयी है और इसका परिणाम बुरा हो रहा है। जिनके लिये भाषा के साथ-साथ, श्री रामचन्द्र वर्मा के कथनानुसार, संस्कृति की भी हत्या की जा रही है वे तो कांग्रेस की ओर आते ही नहीं, उल्टे उनके हृदय को चोट पहुँचने लगी है जिनके कारण कांग्रेस का कांग्रेसत्व है। साहित्य-सम्मेलन को चाहिए कि कांग्रेस के कर्णधारों का ध्यान इस ओर दिलाकर राष्ट्रभाषा के नाम होने वाले इस अकाण्ड-ताण्डव को समय रहते रोकने की प्रार्थना, नम्रता, पर दृढ़ता के साथ करें।

हिन्दुस्तानी के नाम पर यह जो अनर्थ हो रहा है उससे केवल हिन्दी की ही नहीं बल्कि भारतीय संस्कृति की रक्षा करने के लिए भी मैं कहता हूँ कि हमारी राष्ट्रभाषा का नाम हिन्दी होना चाहिए और उसकी प्रवृत्ति भी हिन्दी यानी हिन्द की होनी चाहिए। शब्दों के सम्बन्ध में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। संस्कृत तथा विदेशों की प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं से जितने अधिक शब्द हिन्दी में आवेंगे उतनी ही उसकी सम्पत्ति बढ़ेगी और भिन्न-भिन्न भावों के

प्रकट करने में उतनी ही अधिक सरलता होगी। जिस भाव या वस्तु का द्योतक शब्द हिन्दी में है उसी के पर्यायवाची अन्य शब्दों के लेने में भी कोई आपत्ति न होनी चाहिए क्योंकि प्रथम जो शब्द केवल पर्यायवाची होते हैं वे ही अच्छे लेखकों के हाथ में पड़कर एक ही भाव के कई सूक्ष्म भेदों के व्यंजक हो जाते हैं और इससे भाषा का सौन्दर्य और बल बढ़ाते हैं। पर इनका प्रयोग सावधानता के साथ करना चाहिए। संस्कृत तत्सम संज्ञा का विशेषण अरबी तत्सम शब्द हो तो वह कर्णकटु होता है, भाषा साहित्य से कोसों दूर भाग जाती है। उदाहरणार्थ अनुकरणीय वफ़ादारी ही लीजिए। कितना कर्णकटु लगता है ! इसका अर्थ यह नहीं कि भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्द एक साथ आने से ही भाषा कर्णकटु हो जाती है। अच्छे कवि और माली कहाँ-कहाँ से शब्द और फूल लाकर सुन्दर गुलदस्ता बना देते हैं जो देखते ही बनता है। उदाहरणार्थ, उर्दू के आदिकवि वली के शेर लीजिए--

तुझ इश्क़ में जल जलकर सब तन को किया काजल,
यह रोशनी-अफ़ज़ा है अँखियन को लगाती जा।
तुझ इश्क़ में दिल चलकर जोगी का लिया सूरत,
यक बार अरे मोहन छाती सों लगाती जा।
तुझ घर के तरफ सुन्दर आता है वली दायम,
मुश्ताक़ है दर्शन का टुक दरस दिखाती जा।

इन शेरों में संस्कृत और अरबी तत्सम और तद्भव शब्दों का कैसा सुन्दर मेल है। यह उस समय की भाषा है जब भारतीय और विदेशी शब्द एक दूसरे से मिलकर हमारी मातृभाषा का भण्डार और सौन्दर्य बढ़ाने लगे थे। यदि उर्दू के कवि और खासकर मुसलमान कवि केवल शब्द बाहर से लाकर ही सन्तुष्ट होकर भारतीय भावों की रक्षा करते होते तो निश्चय ही वे ऐसी भाषा तैयार करने में समर्थ होते जो वास्तविक अर्थ में राष्ट्रभाषा बन जाती और उत्तर भारत में साहित्य की एक ही भाषा रहती। पर पहले तो मुसलमान कवियों के फारसी लिपि का ग्रहण करने से उनकी हिन्दुस्तानी या

उर्दू अपनी आधारभूत हिन्दी से दूर-दूर जाने लगी । इस पर उन्होंने जब अपने लिए व्याकरण और छन्द भी विदेश से मँगाये और उपमान भी अरब-फारस से आने लगे, तव इन दोनों के बीच का अन्तर धीरे-धीरे वढ़ने लगा, यहाँ तक कि अब हिन्दी और उर्दू बिलकुल भिन्न भाषाएँ समझी जाने लगी हैं । हमारे मुस्लिम कवियों को भारत की कोकिल न भायी, फारस के चमनिस्तान से बुलबुल को लाकर हमारे आम के वृक्षों पर बैठा दिया । उन्हें उपमा के लिए इस देश के अगाध साहित्य में उपमान न मिले । यद्यपि दोनों गैरमुस्लिम थे पर उन्हें सुक़रात और अफलातून का अभिमान हुआ, कपिल, व्यास की ओर से मुँह मोड़ लिया । परिणाम जो होना था वही हुआ । क्या शब्दों में और क्या भावों में उर्दू साहित्य बहिर्मुखी हो गया । यद्यपि कुछ मुस्लिम कवियों ने भारतीय वनने का यत्न किया और आज यह प्रवृत्ति यत्र तत्र वढ़ती दिखाई देती है फिर भी मुझे अपने उर्दूदाँ मित्रों से यही मालूम हुआ है कि उर्दू का प्रवाह केवल बहिर्मुख ही नहीं उसका उद्गम भी अव विदेशी मालूम हो रहा है । जिसका साहित्य, आत्मा और दृष्टि ही अपनी न हो वह कैसे राष्ट्रभाषा बन सकेगी, इसका विचार आप विद्वज्जन ही करें ।

अन्य भाषाओं से शब्द लेने में कोई आपत्ति नहीं वरंच लेना चाहिए । पर इसके साथ एक शर्त है । शब्द मूलतः चाहे जिस भाषा के हों पर जव हम लें तो उन्हें अपना-सा बनाकर लें । अर्थात् उनकी ध्वनि हमारी भाषा की ध्वनि से मिलती-जुलती हो । मूल ध्वनि की रक्षा करने का यत्न केवल व्यर्थ ही नहीं, हानिकारक भी है । यह बात केवल अरबी-फारसी के ही नहीं संस्कृत के शब्दों में भी है । हाँ, संस्कृत शब्दों के उच्चारण हिन्दी भाषा बोलनेवालों के वाग्यंत्र के लिए प्रायः स्वाभाविक होने के कारण उनके हिन्दी हो जाने पर भी अधिक परिवर्तन नहीं होता और अरबी-फारसी के शब्दों में होता है । पर यह अनिवार्य है । आगत शब्दों का उच्चारण मूल में जैसा है वैसा ही बनाये रखने का यत्न करने से वे कभी हमारे न होंगे । भाषा उनको हजम न कर सकेगी, भाषा को उनसे बदहजमी हो जायगी । इन्हीं शब्दों के सम्बन्ध में दूसरी शर्त यह है कि

ये हमारे व्याकरण के शासन में आ जायँ। हम शब्द अन्य भाषाओं से ले सकते हैं पर उनके लिंग और वचन-सम्बन्धी रूपान्तर हमें उस भाषा के व्याकरण के नियमानुसार न बनाने चाहिए जिससे वे आये हों। शब्दों के भाषान्तरित होने के साथ-साथ व्याकरणान्तरित भी होना ही चाहिए। अंग्रेजी में हिन्दी के अनेक शब्द गये हैं, जैसे जंगल, पण्डित आदि। इनके वहुवचन अंग्रेजी भाषा के नियमों के अनुसार जंगल्स, पण्डित्स आदि होते हैं। हिन्दी-संस्कृत के नियम लागू नहीं होते। हिन्दी में भी हम संस्कृत से शब्द लेते हैं, पर उनके रूपान्तर अपने ढंग से वना लेते हैं। उदाहरणार्थ, 'पुस्तक' शब्द संस्कृत है और वहाँ उसका वहुवचन पुस्तकानि होता है। पर उसके हिन्दी हो जाने पर वहुवचन हिन्दी व्याकरण के अनुसार पुस्तकें होता है, न कि पुस्तकानि। यह नियम अंग्रेजी, अरबी-फारसी के शब्दों पर भी लागू होना चाहिए। उदाहरणार्थ, हमने 'फुट' शब्द को अंग्रेजी से लिया है। इसकी आवश्यकता भी थी। पर इसका वहुवचन भी वहाँ से लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपने व्याकरण के नियमानुसार प्रथमा में फुट का वहुवचन फुट ही होता है और हमें दो फुट, तीन फुट आदि ही लिखना चाहिए, न कि दो फीट, तीन फीट आदि। स्कूलों में पढ़ायी जानेवाली गणित की पुस्तकों में 'फीट' देखकर मुझे तो 'फिट' आता है। 'साहब' हमने अरबी से लिया है और यह नित्य की बोलचाल में भी आता है। पर इसका वहुवचन 'असहाब' करना, उसे हिन्दी न होने देना और हिन्दी को संग्रहणी का शिकार वनाना है। 'स्टेशन', 'इस्टेशन' वनकर अथवा अपने मूलरूप में, हिन्दी-उर्दू में आया है। पर इसका वहुवचन 'स्टेशन्स' हमने नहीं लिया है। हम कहते हैं, 'राह में हमने कई वड़े-वड़े स्टेशन देखे' न कि 'स्टेशन्स' देखे। इतने उदाहरण काफी हैं। तात्पर्य कहने का इतना ही है कि वाहर से शब्द मँगाइए, पर उन्हें अपना लीजिए—अपने व्याकरण के शासन में लाइए।

वाहर के सब शब्दों का स्वागत करनेवाली हिन्दी ही हमारी राष्ट्रभाषा हो सकती है और स्वभावतः है। हिन्दी का अर्थ है हिन्द की भाषा। 'हिन्दुई' या 'हिन्दवी' किसी ज़माने में हिन्दू की भाषा

समझी जाती रही होगी, पर आज हमारी हिन्दी, हिन्द की भाषा है। इसका कोई प्रान्तीय नाम नहीं है। यही इस बात का प्रमाण है कि वह सारे देश की—हिन्द की—भाषा है। मराठी, गुजराती, बँगला, तामिल, तेलुगु आदि भाषाएँ प्रान्तीय भाषाएँ हैं जो नाम से ही ध्वनित होती हैं। पर हिन्दी देश की भाषा है। इसका आधुनिक साहित्य अनेक प्रांतीय भाषाओं की तुलना में छोटा होने पर भी वह राष्ट्र की छोटी-सी, पर बहुमूल्य सम्पत्ति है, उसकी अपनी भाषा है। इसमें प्रांतीय अभिमान बिलकुल नहीं है, यह बात अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। प्रान्तीय अभिमान के अभाव के साथ-साथ इसमें अन्य प्रान्तों के सम्बन्ध में अवज्ञासूचक कोई शब्द भी नहीं है, यह भी इसकी राष्ट्रीयता का एक प्रमाण है। इसके लेखकों का लक्ष्य हिन्द होता है, कोई प्रान्त विशेष नहीं। बंगाली 'बंग आमार जननी, आमार देश' गा सकते हैं, 'महाराष्ट्र देश अमुचा' कहकर महाराष्ट्रवासी फूले अंग नहीं समा सकते हैं, पर हिन्दी जिनकी मातृभाषा है उनके लिए तो 'भारत हमारा देश' है और 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्तां हमारा' ही है। हिन्दी, राष्ट्र के लिए राष्ट्र के मुँह से बोलती है, क्योंकि वह राष्ट्र की भाषा है और हमारी मातृभाषा भी।

राष्ट्रभाषा और मातृभाषा में भेद

राष्ट्रभाषा और मातृभाषा में भेद है। जैसाकि मैं पहले कह चुका हूँ, मातृभाषा भी राष्ट्रभाषा हो सकती है, पर यह जरूरी नहीं है कि राष्ट्रभाषा मातृभाषा ही हो। हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनने का यह अर्थ नहीं है जैसा कि कुछ लोग समझते हैं कि अन्य भाषाभाषी सज्जन अपनी-अपनी मातृभाषाओं का त्याग करके हिन्दी को अपनावें। राष्ट्रीयता का तो अनुरोध केवल इतना ही है कि सारे राष्ट्र की एक भाषा हो, जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रान्तों के सज्जन परस्पर सम्बन्ध-स्थापन करें, विचारों का आदान-प्रदान करें तथा सब सर्वप्रान्तीय कार्य इसी के द्वारा करें। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाना कांग्रेस ने इसीलिए स्वीकार किया है कि सारे राष्ट्र की एक सामान्य भाषा

हुए बिना राष्ट्र फूलने-फलने नहीं पाता, स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकता, मानव-उन्नति के कार्य में वह भाग नहीं ले सकता, जो उसका अपना कर्तव्य है। अतः यदि हम एकराष्ट्र होना चाहते हैं, संसार में अपना गौरव-मण्डित पद ग्रहण करना चाहते हैं तो हमारा—भारत-सन्तान-मात्र का—कर्तव्य है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में यथाशक्ति सहयोग करें।

हमारी राष्ट्रभाषा

श्री गणेश शंकर विद्यार्थी

आज से उन्नीस वर्ष पहले, जवकि इस सम्मेलन का जन्म नहीं हुआ था और उसके जन्म के पश्चात् भी कई वर्षों तक, अपनी मातृ-भाषा का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करने के लिए हमें पग-पग पर न केवल संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, सौराष्ट्री आदि की छान-बीन करते हुए शब्द-विज्ञान और भाषा-विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध करने की आवश्यकता पड़ा करती थी कि हिन्दी भाषा संस्कृत या प्राकृत की वड़ी कन्या है; किन्तु बहुधा बात यहाँ तक पहुँच जाया करती थी और यह भी सिद्ध करना पड़ता था कि नानक और कबीर, सूर और तुलसी की भाषा का, वादशाह शाहजहाँ के समय जन्म लेनेवाली उर्दू बोली के पहले कोई अलग गद्य रूप भी था। जिस भाषा में पद्य की रचना इतने ऊँचे दर्जे तक पहुँच चुकी हो, उसके सम्वन्ध में, इस वात की सफाई देना पड़े कि उसका उस समय गद्य रूप भी था, इससे बढ़कर कोई हास्यास्पद बात नहीं हो सकती। इस देश में गद्य में लिखने का वहुत प्रचार नहीं था। बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे गये, पहले संस्कृत में, और फिर उसकी कन्या-भाषाओं में, किन्तु थे अधिकांश पद्य में। ऐसा भासित होता है कि उस समय गद्य में लिखना हेय समझा जाता था। पद्य लिखने ही से विद्वत्ता का अधिक परिचय प्राप्त हुआ करता था। अन्य देशों में भी, पहले पद्य लिखने ही की वहुत वड़ी परिपाटी थी। ग्रीस और रोम, ईरान और चीन में प्राचीन काल में गद्यात्मक रचनायें भी हुईं; किन्तु इनका उतना अधिक महत्त्व नहीं था, जितना पद्यात्मक रचनाओं का। इसी प्रकार भारतवर्ष में भी पद्यात्मक रचना का महत्त्व अधिक था। यह सम्भव है कि अन्य देशों की अपेक्षा, यहाँ पद्यात्मक रचना और भी अधिक आवश्यक और गद्यात्मक रचना और भी अधिक अनावश्यक समझी गयी हो। किन्तु पद्यों के बड़े से बड़े युग में भी गद्य का कोई मूल्य न रहा हो और उसका अस्तित्व नितान्त लोप हो गया हो, इस बात की कल्पना करना भी हास्यास्पद है। इसीलिए उत्कृष्ट हिन्दी-पद्य रचना के

पश्चात् हिन्दी के गद्य के स्वतन्त्र अस्तित्व के सिद्ध करने की आवश्यकता पड़ना इस देश का एक विचित्र व्यापार है। इस विचित्र व्यापार का एक वड़ा भारी कारण है। मैं जिस कारण की ओर निर्देश करूँगा, वह सम्भव है, आप में से अनेकों को मेरी निज की निरन्तर विचारशैली का एक कारण-मात्र जँचे, किन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मैं उस कारण को आपके सामने रखने में किसी प्रकार की संकीर्णता से काम नहीं ले रहा हूँ। मैं केवल एक सर्वमान्य वात को आपके सामने रख रहा हूँ और मैं यह भी चाहूँगा कि आप में से जो सज्जन मुझसे इस विषय में मतभेद रखते हों, वे इसके विपरीत संसार-भर में कहीं से कोई भी उदाहरण निकाल कर उपस्थित करने की कृपा करें। मैं जो कुछ कहनेवाला हूँ, वह केवल इतना ही है कि राजनैतिक पराधीनता पराधीन देश की भाषा पर अत्यन्त विषम प्रहार करती है। विजयी लोगों की विजय-गति विजितों के जीवन के प्रत्येक विभाग पर अपनी श्रेष्ठता की छाप लगाने का सतत प्रयत्न करती है। स्वाभाविक ढङ्ग से विजितों की भाषा पर उनका सवसे पहले वार होता है। भाषा जातीय जीवन और उसकी संस्कृति की सर्वप्रधान रक्षिका है, वह उसके शील का दर्पण है, वह उसके विकास का वैभव है। भाषा जीती और सव जीत लिया; फिर कुछ भी जीतने के लिए शेष नहीं रह जाता। विजितों का अस्तित्व मिट चलता है। विजितों के मुँह से निकली हुई विजयी जनों की भाषा उनकी दासता की सवसे वड़ी चिह्नानी है। परायी भाषा चरित्र की दृढ़ता का अपहरण कर लेती है, मौलिकता का विनाश कर देती है और नकल करने का स्वभाव बना कर के उत्कृष्ट गुणों और प्रतिभा से नमस्कार करा देती है। इसीलिए जो देश दुर्भाग्य से पराधीन हो जाते हैं, वे उस समय तक, जब तक कि वे अपना सब कुछ नहीं खो देते, अपनी भाषा की रक्षा के लिए सदा लोहा लेते रहना अपना कर्तव्य समझते हैं। अनेक यूरोपीय देशों के इतिहास भाषा-संग्राम की घटनाओं से भरे पड़े हैं। प्राचीन रोम साम्राज्य से लेकर अव तक के रूस, जर्मन, इटैलियन, आस्ट्रियन, फ्रेंच और ब्रिटिश सभी साम्राज्यों ने अपने अधीन देशों की भाषा पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहरायी। भाषा-विजय का यह

काम सहज में नहीं हो गया। भाषा-समरस्थली के एक-एक इंच स्थान के लिए बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुईं। देश की स्वाधीनता के लिए मर मिटनेवाले अनेक वीर-पुंगवों के समयों में इस विचार का स्थान सदा ऊँचा रहा है कि देश की भौगोलिक सीमा की अपेक्षा मातृभाषा की सीमा की रक्षा की अधिक आवश्यकता है। वे अनुभव करते थे कि भाषा वची रहेगी तो देश का अस्तित्व और उसकी आत्मा वची रहेगी, अन्यथा फिर कहीं उसका कुछ भी पता न लगेगा। भाषा-सम्वन्धी सवसे आधुनिक लड़ाई आयरलैण्ड को लड़नी पड़ी थी। पराधीनता ने गैलिक भाषा का सर्वथा नाश कर दिया था। दुर्दशा यहाँ तक हुई कि इने-गिने मनुष्यों को छोड़कर किसी को भी गैलिक का ज्ञान न रहा था, आयरलैण्ड के समस्त लोग यह समझने लगे थे कि अंग्रेजी ही उनकी मातृभाषा है, और जिन्हें गैलिक आती भी थी, वे उसे बोलते लजाते थे और कभी किसी व्यक्ति के सामने उससे एक शब्द का भी उच्चारण नहीं करते थे। आत्म-विस्मृति के इस युग के पश्चात्, जब आयरलैण्ड की सोती हुई आत्मा जागी, तब उसने अनुभव किया कि उसने स्वाधीनता तो खो ही दी, किन्तु उससे भी अधिक बहुमूल्य वस्तु उसने अपनी भाषा भी खो दी। गैलिक भाषा के पुनरुत्थान की कथा अत्यन्त चमत्कारपूर्ण और उत्साहवर्द्धक है। उससे अपने भाव और भाषा को बिसरा देनेवाले समस्त देशों को प्रोत्साहन और आत्मोद्धार का संदेश मिलता है। इस शताब्दी के आरम्भ हो जाने के बहुत पीछे, गैलिक भाषा के पुनरुद्धार का प्रयत्न आरम्भ हुआ। देखते-देखते वह आयरलैण्ड-भर पर छा गयी। देश की उन्नति चाहने-वाला प्रत्येक व्यक्ति गैलिक पढ़ना और पढ़ाना अपना कर्तव्य समझने लगा। सौ वर्ष के बूढ़े एक मोची से डी-वेलरा ने युवावस्था में गैलिक पढ़ी और इसलिए पढ़ी कि उनका स्पष्ट मत था कि यदि मेरे सामने एक ओर देश की स्वाधीनता रक्खी जाय और दूसरी ओर मातृभाषा, और मुझसे पूछा जाय कि इन दोनों में एक कौन-सी लोगे तो एक क्षण के विलम्ब बिना मैं मातृभाषा को ले लूँगा, क्योंकि इसके वल से मैं देश की स्वाधीनता भी प्राप्त कर लूँगा।

हिन्दी : विश्व में इसका स्थान तथा स्वरूप-बोध

डॉ० उदय नारायण तिवारी, एम० ए०, डी० लिट०,

बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से विश्व की सर्वप्रथम भाषा चीनी है। इसके बोलनेवाले लगभग पचास करोड़ व्यक्ति बताये जाते हैं किन्तु वास्तव में इसकी राष्ट्रभाषा मण्डारिन बोलनेवाले चीनीभाषियों की संख्या अड़तीस करोड़ के लगभग है। इसके बाद विश्व में अंग्रेजी बोलनेवालों की संख्या सत्ताईस करोड़ है। अंग्रेजी के बाद रूसी बोलनेवालों की संख्या लगभग १४ करोड़, स्पेन-भाषियों की संख्या साढ़े तेरह करोड़ तथा जर्मन, पुर्तगाली, फ्रेंच और इतालवी भाषियों की संख्या क्रमशः नौ करोड़, छः करोड़ तीस लाख, छः करोड़ एवं पाँच करोड़ है। यह संख्या कई वर्ष पहले की है। किन्तु इससे इन भाषाओं के बोलनेवालों की संख्या का एक अन्दाज़ा लगाया जा सकता है।

हिन्दी बोलनेवालों और समझनेवालों की संख्या लगभग पचीस करोड़ है। इस संख्या में उर्दू एवं हैदराबाद की दक्खिनी बोलने वालों की संख्या भी सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त हिन्द महासागर के मारिशस, ट्रिनिडाड, ब्रिटिश गायना आदि के निवासी भी हिन्दी बोल तथा समझ लेते हैं। भारत के बाहर वर्मा, सिंगापुर तथा सीलोन में भी हिन्दी के द्वारा कुछ-कुछ भाषिक आदान-प्रदान होता है। इस प्रकार बोलनेवालों की संख्या की दृष्टि से हिन्दी, अंग्रेजी के बाद विश्व की तीसरी भाषा है। इसे चीनी और अंग्रेजी के बाद यूनेस्को (संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक, सांस्कृतिक संगठन) में तीसरा स्थान मिलना चाहिए था, किन्तु हमारे देश के कई कर्णधार इस स्थिति को न जानते हुए अंग्रेजी के व्यामोह में फँस गये और चूँकि इनमें से अधिकांश की शिक्षा-दीक्षा लन्दन में हुई थी अतः भाषा के स्वराज्य को दृष्टि में न रखते हुए, वे अंग्रेजी के ही पक्षधर रहे। इसके परिणामस्वरूप हिन्दी को जो सबसे गहरी क्षति पहुँची, वह यह थी कि

भाषा के रूप में यूनेस्को में उसे स्वीकृति न मिली। यह भारत की बहुत बड़ी पराजय थी।

विश्व के प्रायः सभी देशों ने अपने ही देश की भाषा को शिक्षा-दीक्षा के लिए स्वीकार किया। यूरोप के स्विटजरलेंड जैसे छोटे राज्य तक ने अपनी भाषा को ही अपने यहाँ की शिक्षा का माध्यम बनाया। अंग्रेजों के अतिरिक्त रूस, फ्रांस, जर्मनी, बेल्जियम, पोलैंड, हंगरी आदि देशों के लोगों ने भी अपनी-अपनी भाषाओं को वरीयता दी है। इन देशों की भाषिक स्थिति को न जानते हुए अनेक भारतीय यह कल्पना कर लेते हैं कि वहाँ भारत की तरह अनेक बोलियाँ नहीं हैं। केवल रूस में ही अनेक भाषाएँ हैं जिनके माध्यम से वहाँ के विभिन्न राज्यों में शिक्षा दी जाती है। किन्तु यह होते हुए भी वहाँ की सर्वमान्य भाषा रूसी का सर्वत्र आदर है क्योंकि समान राष्ट्रीय भाषाओं में उसे प्रथम स्थान दिया गया है। भारत में भी पन्द्रह भाषाओं को राष्ट्रीय स्तर की भाषायें माना गया है। ये क्रमशः इस प्रकार हैं—असमी, बँगला, गुजराती, हिन्दी, कन्नड़, कश्मीरी, मलयाली, मराठी, उड़िया, पंजाबी, संस्कृत, तमिल, तेलुगु, उर्दू, सिन्धी। ये सम्पूर्ण भारत के विभिन्न राज्यों की भाषाएँ हैं किन्तु इनमें हिन्दी को अन्तर्राज्यीय या सम्पर्क भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है।

महात्मा गाँधी ने हिन्दी-हिन्दुस्तानी को ही राष्ट्रभाषा के पद पर स्थापित किया। यह उस समय की बात है जब हिन्दुस्तान ब्रिटिश साम्राज्य का एक उपनिवेश था। सन् १९४७ ई० में जब भारत स्वतंत्र हुआ तब इसके संविधान में देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी को भारत की भाषा माना गया। हिन्दी प्रायः उत्तरी भारत के सभी राज्यों में बोली समझी जाती है। दक्षिण के चार राज्यों—तमिल, तेलुगु, मलयालम एवं कन्नड़—की भाषा हिन्दीतर होने से वहाँ अवश्य कठिनाई थी। किन्तु वहाँ भी हिन्दी को ग्रहण करने में दो तत्त्व प्रमुख थे। इनमें एक था देश को एकता के सूत्र में बाँधने की जनता की प्रबल आकांक्षा, दूसरा यह कि इन दक्षिणी भाषाओं में भी संस्कृत के

अनेक शब्द ग्रहीत हुए थे जो उत्तर और दक्षिण की भाषाओं के बीच सेतु का कार्य कर रहे थे। एक तीसरा तत्त्व दक्षिण और उत्तर के बीच तीर्थयात्रियों का आवागमन था जो कि अति प्राचीन काल से चला आ रहा था। इन तत्त्वों के परिणामस्वरूप हिन्दी का दक्षिण में खूब प्रचार-प्रसार हुआ, विशेषरूप से स्त्रियों ने हिन्दी को राष्ट्रीय दृष्टि से अत्यधिक अपनाया।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भी अंग्रेजी इस देश में बनी रही जो कि उचित न था। इसके बाद तमिलनाडु में राजनैतिक दृष्टि से हिन्दी का किंचित् विरोध आरम्भ हुआ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यह विरोध मात्र राजनैतिक कारणों से ही है और यह एक प्रकार से राजनैतिक नारा बन गया है। अन्यथा, तमिलनाडु की जनता आज भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति वैसी ही आस्थावान है जैसी वह पहले थी। दक्षिण के शेष हिन्दीतर राज्यों तेलुगु, कन्नड़ एवं मलयालम में राष्ट्रभाषा हिन्दी का पूर्ण सम्मान है और दक्षिण के प्राय: सभी विश्वविद्यालयों में उच्च हिन्दी का भी अध्ययन-अध्यापन प्रचलित है। जहाँ भी किंचित् विरोध है वहाँ के अंग्रेजी अखबार, जो आज भी जनता के शोषण के केन्द्र हैं, बहुत बढ़ा-चढ़ा कर इस विरोध का प्रचार करते हैं। देश के स्वतन्त्र हो जाने पर भी न तो हमारी समाचार-एजेंसियाँ हैं और न पुष्ट प्रचार-प्रसार के साधन। इसका भी राष्ट्रभाषा पर विपरीत प्रभाव पड़ा है और अंग्रेजी भाषा का साम्राज्यवाद अंग्रेजों के चले जाने पर भी यहाँ पूर्ववत् छाया है। अनेक प्रकार की भ्रान्त धारणायें राष्ट्रभाषा हिन्दी के सम्बन्ध में यहाँ प्रचारित हैं जिनका यहाँ स्पष्टीकरण किया जायेगा।

सर्वप्रथम भ्रान्त धारणा यह है कि हिन्दी इतनी सम्पन्न भाषा नहीं है कि जिसके द्वारा उच्च शिक्षा प्रदान की जा सके। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक भाषा अपने समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में सक्षम होती है। विश्व की कोई भाषा इसका अपवाद नहीं है। यदि हिन्दी में आज वैज्ञानिक साहित्य की कमी है तो इसका कारण यह है कि हिन्दी बोलनेवाले समाज को आधुनिक विज्ञान से अभी थोड़े दिनों से ही सम्पर्क स्थापित हुआ है।

इतना होने पर भी केन्द्रीय सरकार द्वारा जो वैज्ञानिक परिभाषा कोष प्रकाशित हुए हैं उनकी सहायता से उच्च से उच्च वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान की जा सकती है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि वैज्ञानिक शिक्षा प्रदान करने वालों में संकल्प एवं निष्ठा की कमी है। यदि दृढ़ संकल्प एवं निष्ठा से काम लिया जाय तो विज्ञान की पूरी शिक्षा राष्ट्रभाषा के माध्यम से दी जा सकती है। आज इस बात की आवश्यकता है कि विभिन्न राज्यों में वहाँ की राजभाषा के द्वारा विज्ञान एवं कला के विभिन्न विषयों की शिक्षा सम्पन्न की जाय।

प्रायः उच्च शिक्षा प्रदान करनेवाले प्राध्यापकों की एक आपत्ति यह भी है कि भारतीय भाषाओं में अधुनातन वैज्ञानिक पुस्तकों का अभाव है। वस्तुतः आज भी हमारे देश के प्राध्यापक अंग्रेजी भाषा में पूर्ण निष्णात हैं। यदि वे अधुनातन ज्ञान को संविधान में स्वीकृत राष्ट्रभाषाओं के द्वारा अपने-अपने राज्यों में प्रदान करने लगें तो छात्रों को सहज में ही अधुनातन ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। इस कार्य में अनुवाद की कठिनाई अवश्य है और प्राध्यापकों को अंग्रेजी के अतिरिक्त यहाँ की भाषाओं एवं हिन्दी के ज्ञान की अपेक्षा है। यह कार्य दृढ़ संकल्प और परिश्रम से ही हल हो सकता है। आरम्भ में प्राध्यापकों को इसके लिए कठिन परिश्रम करना पड़ेगा किन्तु कुछ दिनों बाद यह कार्य नितान्त सरल प्रतीत होने लगेगा। सच बात तो यह है कि हिन्दी तथा आधुनिक भाषाओं के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा देना केवल सिद्धान्त रूप में ही रखने की आवश्यकता नही है अपितु इस दिशा में तत्काल कार्य में प्रवृत्त होने की आवश्यकता है।

इस बात को सदैव स्मरण रखना चाहिए कि किसी भाषा से अन्य भाषा में अनुवाद का कार्य कामचलाऊ ही होता है। ठीक-ठीक अनुवाद करना बहुत कठिन कार्य है। 'ईश्वर' का अंग्रेजी अनुवाद 'गॉड' तथा 'दर्शन' का अनुवाद 'फिलॉसफी' और 'धर्म' के लिए 'रिलिजन' भ्रामक है। किन्तु हमने कामचलाऊ अनुवाद के रूप में इसे स्वीकार कर लिया है। वास्तव में किसी भाषा का दूसरी भाषा

में ठीक-ठीक अनुवाद कर लेना किसी भाषा की श्रेष्ठता द्योतित नहीं करता। एस्कीमो भाषा में कुछ ही हजार शब्द हैं। इन सबका सम्बन्ध बर्फ के गलने की विविध प्रक्रियाओं से है जिनका अनुवाद फ्रेंच, जर्मन, रूसी एवं अंग्रेजी जैसी सम्पन्न भाषाओं में ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता। तब क्या इसका यह अर्थ है कि इन भाषाओं की सम्पन्नता त्रुटिपूर्ण है? इसकी सरल व्याख्या यह है कि हिम (बर्फ) की इन विभिन्न क्रियाओं से इन सम्पन्न भाषाओं का कभी कोई सम्पर्क नहीं रहा और न ये क्रियायें इन भाषा-भाषियों के समाज का अंग बन पायीं। अतः इनका ठीक-ठीक अनुवाद प्रायः असम्भव है। किन्तु काम-चलाऊ अनुवाद तो कर ही लिया जाता है। सच बात तो यह है कि एक ओर अनुवाद से और दूसरी ओर मौलिक कार्यों से हमें हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं को सम्पन्न बनाना है। इन दोनों के सहयोग से ही हिन्दी में सम्पन्नता आयेगी। अनुवाद केवल पैसे के वितरण से ही सम्भव नहीं होगा, अपितु अनुवादक में अपने कार्य के प्रति निष्ठा भी होनी चाहिये।

अनुवाद के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि हमारी विविध बोलियों में अनेक ऐसे उपयुक्त शब्द हैं जो काम में आ सकते हैं। बोलियों के कोश के अभाव में हम इनसे अपरिचित हैं। इसके लिए हमें बोलियों से परिचय प्राप्त करने की आवश्यकता है। यह कार्य साधारणतः संकल्प के अभाव में कठिन प्रतीत होता है किन्तु हमारे देश के अधिकांश विद्वान् मूलतः गाँवों से नगरों में आये हैं अतः किसी न किसी बोली से उनका स्वाभाविक रूप से परिचय होता है। हिन्दी क्षेत्र बहुत विस्तृत है और इसमें सांस्कृतिक वैविध्य भी है। हिन्दी के विविध क्षेत्रों में स्थित विश्वविद्यालयों की सहायता से यह कार्य सहज में सम्पन्न किया जा सकता है। हिमांचल प्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा बिहार के विश्वविद्यालयों को इस कार्य में नियोजित करने की आवश्यकता है। यह समूचा क्षेत्र इतना बड़ा है कि इसके सहयोग से यह कार्य सरलतया सम्पन्न हो सकता है।

इस देश में अन्तर्राष्ट्रीयता का भूत प्रायः सबके सिर चढ़ा हुआ है। चाहे पारिभाषिक शब्दों को ग्रहण करने की बात हो अथवा अन्य क्रिया कलापों के लिए शब्दों को लेने की बात, हमारे देश के अनेक लोग इस भ्रान्त धारणा से ग्रस्त हैं कि इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय शब्द ग्रहण किये जायँ। आज से कुछ वर्ष पूर्व विश्वविद्यालय आयोग के चेयरमैन श्री दौलत सिंह कोठारी ने यह स्पष्ट किया था कि विज्ञान के सभी शब्द अन्तर्राष्ट्रीय नहीं हैं और इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रान्स, रूस तथा अन्य देशों में अनेक शब्द अपनी-अपनी भाषा के प्रयोग किये जाते हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि विश्व की अन्य भाषाओं से अपरिचित होने के कारण हमने केवल अंग्रेजी में प्रचलित शब्दों को ही अन्तर्राष्ट्रीय मान लिया है। अंग्रेजी न तो अन्तर्राष्ट्रीय भाषा है और न यह अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। अंग्रेजी क्षेत्र से बाहर जाते ही पर्यटकों को इस बात का अनुभव होने लगता है।

भाषाओं में शब्द-निर्माण की दो प्रवृत्तियाँ होती हैं। एक तो यह कि कुछ भाषाओं में इतनी अधिक मात्रा में अपने प्रत्यय होते हैं जिनके द्वारा वे अधिकतर नवीन शब्दों का निर्माण कर लेती हैं। किन्तु दूसरी वे भाषायें होती हैं जिनमें प्रत्ययों की संख्या कम होने से अन्य भाषाओं से सीधे शब्द ग्रहण कर लेती हैं। अंग्रेजी इस दूसरी कोटि की भाषा है। यह विश्व की अनेक भाषाओं से शब्द ग्रहण करती है। किन्तु रूसी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषायें पहले प्रकार की हैं। वे प्रत्यय-सम्पन्न भाषाएँ हैं और आवश्यकता पड़ने पर उन प्रत्ययों से नवीन शब्दों का निर्माण कर लेती हैं और शब्द का अभाव होने पर तो संसार की सभी भाषाएँ अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करती हैं। हमें शब्द ग्रहण करने में अंग्रेजी की नकल करने की जरूरत नहीं जिसका अनेक अज्ञानी नेता हमें निर्देश देते हैं। हिन्दी में प्रथम तो अपने ही प्रत्यय बहुत अधिक हैं। इसके अतिरिक्त उसकी विविध बोलियों में भी कुछ नवीन प्रत्यय हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत का कुल भंडार हिन्दी की सहायता के लिए उपस्थित है। ऐसी स्थिति में हम अंग्रेजी के आदर्श को अपनाते हुए दूसरी

भाषाओं से अनन्त शब्द ग्रहण नहीं कर सकते और न इसकी आवश्यकता ही है।

भारत के संविधान में नागरी लिपि में लिखित हिन्दी यद्यपि भारत की भाषा स्वीकार की गयी है किन्तु इसका कार्यान्वयन नहीं हो सका है। अभी तक प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण कार्य अंग्रेजी में ही हो रहे हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि देश प्रगति के पथ पर आगे नहीं बढ़ पा रहा है। राष्ट्रपिता गाँधीजी ने सन् १९१४ ई० में दक्षिणी अफ्रीका से भारत लौटने पर राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन को एक पत्र में लिखा था—'मेरे लिए हिन्दी का प्रश्न तो स्वराज्य का प्रश्न है।' इसके वाद गाँधीजी ने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा' के द्वारा हिन्दीतर प्रान्तों में राष्ट्रभाषा हिन्दी का प्रचार एवं प्रसार कराया। इसके परिणामस्वरूप देश में भावात्मक एकता प्रादुर्भूत हुई और उत्तर-दक्षिण का भेद मिटने लगा। दुर्भाग्य से देश की स्वतंत्रता के वाद हमारे देश के कर्णधारों ने हिन्दी के महत्त्व को नहीं समझा जिससे पुनः बिखराव की प्रवृत्तियाँ उभरने लगीं। यह निश्चित है कि जब तक हम राष्ट्रभाषा हिन्दी और देवनागरी लिपि के प्रति अपनी आस्था को दृढ़ नहीं बनायेंगे तब तक सम्पूर्ण जनता में एक ओर हीनता की मनोवृत्ति प्रबल होती जायेगी और दूसरी ओर न तो हमारी प्रशासनिक समस्यायें हल होंगी और न हमारे देश का पूर्ण आर्थिक विकास होगा। भविष्य में बहुत ही शीघ्र अल्पसंख्यक के नाम पर पूर्वी अंचलों में रोमन लिपि की समस्या उठेगी और इसी प्रकार दूसरी नयी-नयी समस्यायें भी हमारी सरकार के समक्ष उपस्थित होंगी। इस तथ्य को जितना शीघ्र हमारे देश के कर्णधार हृदयंगम कर सकें, उतना ही अच्छा और कल्याणकारी है।

जनोत्थान के लिए हिन्दी की अनिवार्यता

प्रो० वासुदेव सिंह

अंग्रेजी को प्रशासन की भाषा और अनिवार्य शिक्षण का विषय और परीक्षा का माध्यम वनाये रखने से देश के नवयुवकों एवं विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता उत्तरोत्तर वढ़ती रहेगी। देश की भाषाओं के पारस्परिक कलह और मनोमालिन्य को मिटाने के लिए भी यह आवश्यक, कदाचित् अनिवार्य हो गया है कि सार्वजनिक स्थान से अंग्रेजी हटे। विज्ञान और औद्योगीकरण के विकास और व्यापकीकरण के लिए भी उसे हटाने की आवश्यकता तो स्वयंसिद्ध ही है।

यह एक विचित्र बात है कि स्वाधीनता-प्राप्ति के इतने वर्षों के उपरान्त भी सारे देश की अथवा किसी भी राज्य की एक भाषा की प्रतिष्ठा में अभीष्ट वृद्धि नहीं की जा सकी। संविधान के प्रति भी सरकार की भक्ति एवं निष्ठा का ऐसा परिचय नहीं ही मिल सका है कि उसके द्वारा निर्धारित भाषा-संबंधी नीति परिपुष्ट एवं कार्यान्वित की गयी हो। अंग्रेजी के प्रति सदा बढ़ता सम्मोहजनित चिपकाव बरावर चल रहा है।

जो लोग अंग्रेजी को सार्वजनिक एवं प्रशासनिक प्रयोग की भाषा वनाये रखना चाहते हैं, उसे शिक्षण-परीक्षण, विधि-विधान, ज्ञान-विज्ञान, औद्योगीकरण एवं विकास तथा राष्ट्रीय चेतना और उद्‌बुद्ध प्रेरणा का स्रोत समझते हैं वे मात्र भ्रम में हैं और लोकतंत्र तथा संस्कृति की विकासोन्मुख धारा का पथ अवरुद्ध एवं सीमित रखना चाहते हैं। ऐसे नरमपंथी, अंग्रेजी-समर्थक लोगों और दलों से जनता को सावधान रहना चाहिए। लोकतंत्र और समाजवादी अर्थव्ययस्था की अहर्निश आरती उतारने की एक ओर अनवरत चेष्टा, और दूसरी ओर लोकमानस और जनजीवन के प्रति गहरी उदासीनता दिखलाना तथा विघटनात्मक मनोवृत्तियों को प्रश्रय देना ऐसी स्थिति उत्पन्न कर

रहे हैं जो देश की अखंडता के लिये भयावह और दुष्परिणामकारी हो सकती हैं। अतः अंग्रेजी को हटाना राष्ट्र की स्वयंसिद्ध आवश्यकता है।

स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए देश ने जो दीर्घकालीन व्यापक विराट संघर्ष किया, उसके भीतर से एक राष्ट्र की भावना का बड़ा ओज एवं तेजपूर्ण अभ्युदय हुआ। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी एक राष्ट्र की यह चेतना उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करती रही। भारत में भिन्न-भिन्न भाषाओं और लिपियों के रहते हुए भी राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से एक राष्ट्र की यह भावना और चेतना परिपुष्ट और प्रखर भी होती गयी है। इस देश में एक राष्ट्र की चेतना जगाये रखने का काम अत्यंत प्राचीन काल से एक सार्वदेशिक भाषा करती आ रही है। इस बात के सैकड़ों प्रकार के प्रमाण उपलब्ध हैं कि हमारे देश में अत्यंत प्राचीन काल से ही कम-से-कम कृष्णा नदी के उत्तरवर्ती भारत में उसी भाषा के विभिन्न रूपों का प्रयोग होता था जिसका पूर्ण विकसित स्वरूप मध्य देश की भाषा में पाया जाता था।

भारत के इतिहास में मध्यदेश का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। मध्यदेश अनेक प्रकार से परिभाषित हुआ है। राजशेखर ने मध्य-देश को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया था। उनके अनुसार वाराणसी इसका पूर्व विन्दु थी। हरियाणा के करनाल जिले का पृथूदक अथवा पेहावा इसकी उत्तरी, और आबू पर्वत पश्चिमी सीमा थे। दक्षिण में इसका विस्तार नर्मदा तक था। इसी मध्यदेश की वाणी संस्कृत ने समस्त भारत के हृदयों को एक सूत्र में गूँथ दिया था। शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि धर्माचार्यों ने अपनी-अपनी मातृभाषाओं को छोड़कर संस्कृत को अपनाया था और इसी के द्वारा सारे भारत में अपने विचारों का प्रचार किया था। भगवान बुद्ध ने इसी मध्यदेश की भाषा पालि के माध्यम से संपूर्ण भारत में अपने मत का प्रसार किया था। गुजरात के महान साहित्यकार कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी ने कहा था, "आधुनिक हिन्दी मध्य-देश की प्राचीनतम भाषा की उत्तरोत्तर वृद्धिगत अत्रुटित प्रणालिका

में विकसित हुई है व इसके शब्दकोष का प्रयोग उत्तर भारत की सब भाषाओं और द्रविड़ भाषाओं के द्वारा किया जाता है, जिन्होंने युग-प्रतियुग में संस्कृत शब्दों द्वारा अपने को समृद्ध बनाया है।''

अत: हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वह तो पहले से ही राष्ट्रभाषा है। जो लोग यह समझते हैं कि हिन्दी का राष्ट्रभाषा के पद पर समासीन होना किसी की कृपा पर निर्भर है उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि आज्ञा मात्र से भाषाएँ नहीं बना करतीं। भाषा जनता के हृदय की विभूति होती है। उसी के द्वारा उसकी प्रतिष्ठा होती है। जिसके हृदय में राष्ट्र का प्रेम है वह राष्ट्र के अन्तर्गत निवास करनेवाले भिन्न-भिन्न लोगों से प्रेम करेगा, और राष्ट्रभाषा का भी अनिवार्य रूप से प्रेमी होगा। मैं राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्रभाषा-प्रेम में कोई अन्तर नहीं मानता। जो राष्ट्रभाषा का प्रेमी नहीं है उसका राष्ट्र-प्रेम संदिग्ध है।

प्राचीन काल से ही इस देश में साधु और संन्यासी देश के कोने-कोने में बिखरे तीर्थों में परिव्रजन करते थे। पूर्व में जगन्नाथपुरी में, पश्चिम में द्वारका में, दक्षिण में रामेश्वरम् में, उत्तर में कैलास एवं बदरीनाथ में तथा मध्य में काशी और प्रयाग में इस देश के सभी प्रदेशों के भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलनेवाले लोग एकत्र होते थे। इन सबके पारस्परिक एवं अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार का माध्यम हिन्दी थी। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करनेवाले इन अनिवार्य ऐतिहासिक कारणों को भूलकर अब भी हमारे देश में ऐसे लोग हैं जिनका अंग्रेजी के प्रति मोह अंग्रेजों के जाने पर भी दूर नहीं हुआ है। एक विदेशी भाषा के प्रति इस देश में जैसा अनुराग दिखायी पड़ता है, वैसा संसार के किसी अन्य देश में नहीं है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, रूस, चीन आदि देशों में यह सरकारी आदेश है कि किसी विदेशी से विदेशी भाषा में वातचीत न की जाय। इसीलिए वहाँ विदेशियों से द्विभाषियों के माध्यम से वातचीत की जाती है। भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति स्वर्गीय डॉ० जाकिर हुसैन ने कहा है, "हम विदेशी भाषा को करोड़ों पर नहीं लाद सकते। हमें एकता कायम करने के लिए हिन्दी को अपनाना होगा। भारत विभिन्न

भाषारूपी फूलों से सजा हुआ वाग है। हिन्दी का लक्ष्य इसके सौन्दर्य को निखारना है। हिन्दी प्रादेशिक भाषाओं के विकास को बल देना चाहती है, उनके विकास में बाधक नहीं बनना चाहती। हिन्दी राजनीति के बल से दूसरी भाषाओं को दबाना नहीं चाहती, वरन् उनके विकास में सहायक बनना चाहती है। स्वाधीनता-प्राप्ति के आन्दोलन को सफलता के लक्ष्य तक पहुँचाने का श्रेय महात्मा गाँधी को है। वे अहिन्दीभाषी होते हुए भी हिन्दी के अनन्य प्रेमी थे। देश में सर्वत्र वे जनता के बीच हिन्दी में भाषण करते थे। जनता उनके भाषणों को सुनकर मंत्रमुग्ध हो जाती थी।"

महात्माजी ने अंग्रेजी में बहुत कुछ लिखा है जो सारे संसार में समादृत है। पर उन्होंने अंग्रेजी को शासन अथवा शिक्षा में बनाये रखने का सदैव घोर विरोध किया। कारण, वे जानते थे कि समाजवादी भारत के निर्माण के लिए अंग्रेजी की आवश्यकता नहीं है। सुभाषचन्द्र बोस, सरदार वल्लभभाई पटेल आदि अहिन्दीभाषी राष्ट्रनायक जनता के बीच प्रायः हिन्दी में ही भाषण करते थे। आज भी जिन नेताओं को देश के लिए अंग्रेजी आवश्यक प्रतीत होती है, वे निश्चय ही जनता से दूर, बहुत दूर हैं।

अंग्रेजों ने राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपदस्थ और उपेक्षित रखा तो यह उनके लिए स्वाभाविक ही था। पर अपने स्वतंत्र देश में उसकी उपेक्षा और अनादर अत्यंत दुष्परिणामकारी है। राष्ट्रभाषा हिन्दी की उपेक्षा के कारण हमारा लोकतंत्र प्रभावहीन और अपंग या अपूर्ण बना हुआ है। जनता केवल वोट देती है, पर राजकाज में हिस्सा नहीं ले पाती। राष्ट्रभाषा की उपेक्षा के कारण हमारा राष्ट्रीय आत्मसम्मान आहत और क्षत बना हुआ है। जनता में आज भी अभय के उस गुण का सम्यक् विकास नहीं हो पा रहा है जिस पर महात्मा गांधी सबसे अधिक बल देते थे और जो समाजवादी लोकतंत्र की सफलता की पहली अनिवार्य शर्त है। हिन्दी की उपेक्षा से जनता में आत्महीनता की भावना उत्पन्न होती है जो राष्ट्रीयता के तेजस्वी विकास के लिए बाधक है। मेरा तो यह विश्वास है कि यदि हिन्दी इस देश की राष्ट्रभाषा स्वतंत्रता पाने के तुरन्त पहले बना दी गयी

होती और उसके सार्वदेशिक महत्त्व को समझकर उसका समुचित उपयोग किया गया होता तो देश का विभाजन नहीं होता। यदि तुरन्त बाद में ही बना दी गयी होती तो भी भाषा-विषयक समस्या का सदा-सर्वदा के लिए समाधान हो गया होता। मुझे भय है कि यदि हिन्दी की इसी प्रकार उपेक्षा होती रही तो इस कोटि के अन्य घातक अनर्थों का होना असंभव नहीं है। आज हमें उन राजनीतिज्ञों और भाषा एवं साहित्य के विद्वानों से सावधान रहने की आवश्यकता है जो ब्रजभाषा, भोजपुरी, मैथिली आदि हिन्दी की बोलियों को ही हिन्दी के विरुद्ध खड़ाकर अपना राजनीतिक उल्लू सीधा करना चाहते हैं। देश का विघटन करा लेने के बाद अंग्रेजी के भक्तों का यह दूसरा बड़ा षड्यंत्र है जो हिन्दी प्रदेश को ही विघटित कर देना चाहते हैं।

जिन लोगों को राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की शक्ति में संदेह है उन्हें ग्रियर्सन के 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया' को देखना चाहिए। अंग्रेजी के साम्राज्यवाद के प्रति अनन्य निष्ठा रखनेवाले इस अंग्रेज ने उसमें लिखा है—"देशज शब्दों का विशाल भण्डार हिन्दी के पास है और सूक्ष्म विचार (ऐब्स्ट्रैक्ट टर्म्स) व्यक्त करने के लिए सम्यक् शब्दतंत्र है। हिन्दी में ऐसा शब्द-भण्डार है और ऐसी अभिव्यंजना-शक्ति है जो अंग्रेजी से घटकर नहीं है (नाट इनफिरीयर टु इंगलिश)" (लिंग्विस्टिक सर्वे–खंड–१, पृ० १३०)।

अंग्रेजी पढ़े-लिखे कितने भारतीय विद्वान इस देश में है जो ग्रियर्सन-जैसे अंग्रेज मनीषियों के इस प्रकार के विचारों से परिचित हैं। ऐसे अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग ही इस देश के कर्ता-धर्ता बन गये हैं। इन लोगों की सहायता से अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानी नाम की एक विचित्र विकृत शैली को जन्म दिया जो राष्ट्रीय आतमहीनता का एक अत्यंत जुगुप्साकारक रूप है। उदाहरण प्रतिदिन सुनने में आते हैं—"मैंने यह ट्रेन मिस कर दी। आपने डिटेन न कर लिया होता, तो मैं कैच करने में सक्सेसफुल हो जाता।" अंग्रेजों ने अंग्रेजी भाषा का प्रयोग राष्ट्रीय उत्पीड़न के साधन के रूप में किया। अंग्रेजी के ही कारण यह देश अशिक्षित और दिग्भ्रान्त बना रहा। महात्मा गाँधी

ने एक बार 'यंग इंडिया' में लिखा था कि अंग्रेजी सीखने में हमारे देश के प्रत्येक बच्चे के कम-से-कम छः वर्ष बर्बाद हो जाते हैं। इतने समय और शक्ति को बचाकर ये बच्चे अन्य भाषाएँ और विषय सुगमता से सीख सकते थे। १९५१ की जनगणना में साक्षरता के जो आँकड़े प्रस्तुत किये गये थे, उनके अनुसार देश में पढ़े-लिखों की संख्या कुल १६·६ प्रतिशत थी। इनमें अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग केवल एक प्रतिशत थे। यदि इसे मान लें तो देश में अंग्रेजी का व्यवहार कर सकने की क्षमतावाले लोग कुल जनसंख्या में केवल ०.२५ प्रतिशत थे। इन्हीं एक-बटा चार फीसदी लोगों के बल पर भारत में संसार के सबसे बड़े जनतंत्र का प्रयोग हो रहा है—कैसी विडम्बना है यह! यह स्वंयसिद्ध है कि भारतीयों के लिए अंग्रेजी भाषा पढ़ने में, समझने में, व्यवहार में तथा अमल में दुर्बोध और अत्यंत कष्टकारक है। २६ अगस्त १८०६ को दिल्ली के असिस्टेण्ट रेजीडेण्ट सी० टी० मेटकाफ ने जे० बी० गिलक्राइस्ट को एक पत्र लिखा था जिसमें इसका प्रमाण मिलता है। उसने बताया है कि "अपनी बात समझने या दूसरे को समझाने के लिए अक्सर बड़े धीरज की आवश्यकता होती है।..... यहाँ के लोग बात को बार-बार दुहराये बिना हमारे बोलने का तर्ज और ढंग समझ नहीं पाते। ...हिन्दुस्तानी (हिन्दी) ही एक ऐसी जबान है जो आम तौर से उपयोगी साबित होती है और मेरी समझ में संसार की किसी भाषा की अपेक्षा उसका व्यवहार बहुत बड़े पैमाने पर होता है।" मेटकाफ का यह पत्र जे० बी० गिलक्राइस्ट की 'ए वोकेबुलरी, हिन्दुस्तानी एण्ड इंगलिश, इंगलिश एण्ड हिन्दुस्तानी' में उद्धृत है।

भारत की कुल जनसंख्या की एक-बटा चार फीसदी लोग अंग्रेजी के साम्राज्य को अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी स्थायी रूप से कायम रखना चाहते हैं। ये लोग अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए अनेक कुतर्क प्रस्तुत करते हैं। जब तक अंग्रेजी है तब तक ये एक-बटा चार फीसदी लोग, जिनमें कुछ बड़े नेता और नौकरशाह हैं, अपने पदों पर सुरक्षित हैं। कारण, अंग्रेजी उनके हाथ में एक ऐसा अस्त्र है जिसके द्वारा वे अपने को जनता से अलग रखकर उसे

भुलावे में रखते हैं। यह लोग जो तर्क देते हैं उनमें यह है कि अंग्रेजी विश्व-भाषा है । किन्तु यह तथ्य है कि संसार में हिन्दी बोलनेवालों की संख्या अंग्रेजी बोलनेवालों से बहुत कम नहीं है । मारिओ पेई नामक लेखक ने 'लैंग्वेज फार एवरीबॉडी' नामक ग्रंथ में अंग्रेजी बोलनेवालों की संख्या २५ करोड़ बतायी है और हिन्दी बोलनेवालों की संख्या १६ करोड़ बतायी है। पेई ने बिहार के हिन्दी-भाषियों को इस संख्या में शामिल ही नहीं किया, और मारिशस, फ़िजी, ट्रिनिडाड, सूरीनाम आदि विदेशों के हिन्दी-भाषियों को इस गणना से बाहर ही रखा है। हिन्दी-भाषियों की सही गणना होने पर हो सकता है कि उनकी संख्या अंग्रेजी-भाषियों से कुछ अधिक ही निकले। मैं डॉ० रामविलास शर्मा के इस कथन से सहमत हूँ कि "जरा पचास साल आगे की तरफ देखिये । कहाँ होगा ब्रिटिश साम्राज्य या कामनवेल्थ ? कहाँ होगा पूँजीवादी दुनिया का अमरीकी अधि-नायकत्व ? एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका की जातियाँ नयी शक्ति से आगे बढ़ेंगी । यूरोप की भाषाओं से इनका एक नया सम्बन्ध कायम होगा । उस समय अंग्रेजी की यह वर्तमान स्थिति कायम न रह जायेगी । लोग आश्चर्य करेंगे कि ५-६ हजार वर्ष की संस्कृति के देश भारत में कुछ ऐसे भी अन्धे-बहरे थे जो समझते थे कि अंग्रेजी के बिना देश का काम ही न चलेगा।"

अंग्रेजी भाषा और साहित्य के सम्पन्न होने की बात भी हमारे देश में बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कही जाती है । इस सन्दर्भ में भी अंग्रेजी साहित्य के विद्वान् डॉ० रामविलास शर्मा का यह कथन उल्लेखनीय है—"यह न भूलना चाहिए कि बीसवीं सदी में अंग्रेजी साहित्य स्वयं संकटग्रस्त रहा है । शेक्सपियर और मिल्टन को छोड़ दीजिए, शेली और बायरन के टक्कर का भी कोई कवि पिछले ६०–७० वर्षों में नहीं हुआ । डिकेन्स, स्कॉट और हार्डी के युग के बाद उपन्यास-कला का वैभव क्षीण हुआ । अकेले शा विद्रोही वीर की तरह साम्राज्य-वादी संस्कृति पर निरंतर प्रहार करके विश्व-महत्त्व की कला का सृजन कर सके । बीसवीं सदी में अंग्रेजी के जितने कवि हुए हैं उनमें एक भी रवीन्द्रनाथ की करुणा, प्रकृति-प्रेम, सौन्दर्य-सम्बन्धी सूक्ष्म

संवेदनाओं को छू नहीं पाता । शेली और बायरन के युग के बाद इंग्लैण्ड ने वर्तमान काल में एक भी ऐसा कवि पैदा नहीं किया जिसमें सुब्रह्मण्य भारती के समान देशभक्ति और साम्राज्यवाद के प्रति तीव्र आक्रोश हो । अंग्रेजी में न आज और न कभी पहले ऐसा उपन्यासकार पैदा हुआ है जिसने किसानों के जीवन को इतनी गहराई और बारीकी से देखा और चित्रित किया हो जितनी गहराई और बारीकी से प्रेमचन्द ने किया है । अंग्रेजी भाषा में ही कोई चमत्कार होता तो उसने दो-चार शेली, शेक्सपियर और डिकेन्स इस युग में भी पैदा कर लिये होते ।" अंग्रेजी के हिमायतियों को इन तथ्यों की ओर भी ध्यान देना चाहिए ।

हिन्दी ने अपने देश की स्वतन्त्रता और संस्कृति की पराधीनता के विरुद्ध व्यापक और दीर्घकालीन संघर्ष किया है । मुसलमानों के शासनकाल में भी उसने विदेशी शासकों की भाषा-नीति के समक्ष समर्पण नहीं किया, अपितु रसखान, रहीम, जायसी, अकबर जैसे अन्य धर्मियों तक को भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता स्वीकार करने को विवश कर दिया । एक पराधीन जाति की भाषा में ऐसे तेज, ऐसे ओज, ऐसी शक्ति का होना एक चमत्कार है । इसके विपरीत, अंग्रेजी में इंग्लैंड की पराधीनता के असंख्य स्मारक विद्यमान हैं । इंग्लैंड के आदिवासियों के केवल एक दर्जन शब्द ही अब अंग्रेजी में बचे रह गये हैं । इंग्लैण्ड के निवासियों की यह विशेषता रही है कि वे अपने शब्द छोड़ते गये और शासकों के द्वारा प्रयुक्त शब्दावली को अपनाते गये । अंग्रेजी में शासन-व्यवस्था में जितने शब्द प्रयोग में आते हैं वह प्रायः सबके सब फ्रांसीसी भाषा की देन हैं । स्टेट, गवर्नमेंट, कंट्री, पावर, मिनिस्टर, कौंसिल, पार्लयामेंट, पीपुल, नेशन, प्रिंस, ड्यूक, काउंट, नोबल, बार, पीस, बैटल, आर्मर, लांस, वर्चू, वाइस, ड्यूटी, सीज, असाल्ट, जज, जूरी, कोर्ट, क्राइम, एअर, एज, बीस्ट, वेज, लार्ज, क्राई, लेस, प्वाइन्ट-जैसे सैकड़ों शब्द इसके प्रमाण हैं । यह अंग्रेजी भाषा-भाषियों की सांस्कृतिक पराजय का प्रमाण है । इसके विपरीत, पराधीनता के काल में भी हिन्दी भाषा और साहित्य राष्ट्र की सांस्कृतिक अपराजेयता के प्रतीक बने रहे ।

जो भाषा स्वयं ही अनेक रूपों में अपने बोलनेवालों की सांस्कृतिक पराधीनता का स्मारक बनी हुई है उसके भारतीय हिमायतियों और भक्तों से सांस्कृतिक स्वाभिमान की आशा करना व्यर्थ प्रतीत होता है।

अंग्रेजी की अंधभक्ति के कारण हमारे देश का बौद्धिक वर्ग अज्ञान के अन्धकार से बराबर घिरा रहा है। उसको भारतीय भाषाओं के साहित्य में जानने लायक कोई चीज दिखायी ही नहीं पड़ती। एशिया के अपने पड़ोसी देशों की भाषा, संस्कृति और साहित्य से भी हम प्रायः अनभिज्ञ रहे हैं। वस्तुतः अंग्रेजी भाषा ने हमारे लिए विश्व का झरोखा बनने का काम नहीं किया। उलटे उसने हमें अपने देश में ही अजनबी बना दिया। हम अपनी जनता से दूर हो गये। विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के महान साहित्य से दूर हो गये और अपने देश की महान सांस्कृतिक निधि से भी वंचित हो गये।

अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में हिन्दी

डॉ० विद्यानिवास मिश्र

वसे तो यह बात ही सपने जैसी लगती है कि जिस भाषा को अपने देश में अपेक्षित प्रतिष्ठा प्राप्त न हो उसके बारे में यह सोचा जाय कि यह अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होगी, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय भाषा होने की क्षमता की पहचान अगर नहीं की जाएगी तो हिन्दी तकनीकी प्रगति के दौर में काफी पीछे रह जाएगी। अपने देश में लोग हिन्दी के बारे में कितने ही उदासीन हों किन्तु जो विद्वान भाषा के प्रवाह की गति को पहचानते हैं और जो भाषाविज्ञान के सामाजिक पक्ष के पंडित हैं वे अच्छी तरह समझने लगे हैं कि बीसवीं शताब्दी का अन्त होते-होते विश्व में कुल दस भाषाएँ अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की हो जायेंगी और जिनमें आपसी आदान-प्रदान सहज और स्वयंचालित बनाने के लिए यांत्रिकी सुविधाएँ सुलभ हो सकेंगी, उनमें हिन्दी का प्रमुख स्थान होगा। इस निष्कर्ष पर जो पहुँचे हैं, वे सपनों के पीछे दौड़ने वाले प्रेमी नहीं हैं, वे वस्तुपरक दृष्टि से भाषा की क्षमता पहचानने वाले भाषा-शास्त्री हैं।

हिन्दी भाषाभाषी समुदाय विशाल है किन्तु उसे अपनी विशालता का अनुमान होता ही नहीं। हनुमान की तरह उसे स्मरण कराना पड़ता है कि तुम्हारे भीतर असीम शक्ति है। हिन्दी के अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने की जिन आधारभूत परिस्थितियों का परीक्षण किया गया है, उनके बारे में संक्षेप में अपने ही लोगों को बतलाना आज आवश्यक हो गया है। हिन्दीभाषी जन की सबसे बड़ी दुर्बलता यही है कि वह स्वाधीन होने के बाद धीरे-धीरे आत्मविश्वास खो बैठा है। उसे अपनी संस्कृति और अपनी भाषा से कुछ संकोच होने लगा है। वह सोचने लगा है कि कहीं हिन्दी क्षेत्रीय तो नहीं है, हिन्दी किसी की रग तो नहीं दुखा रही है, कहीं हिन्दी किसी का अधिकार तो नहीं छीन रही है। कहीं हिन्दी प्रभुओं की भाषा बनने की प्रतिस्पर्धा तो नहीं कर रही है।

वह भूल गया है कि हिन्दी और स्वाधीनता दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। हिन्दी मुक्ति के लिए संघर्ष की भाषा रही है और वह मुक्ति केवल अपने देश के लिए नहीं, उन समस्त देशों के लिए है जो उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद और प्रभाववाद में जकड़े रहे। यह स्मरणीय है कि अपने देश में अपनी भाषा रहनी चाहिए। यह आवाज उठाने की प्रेरणा सबसे पहले जिनके मन में उठी वे हिन्दी-भाषी क्षेत्र के नहीं थे। यह बार-बार दुहराया गया सत्य है कि स्वामी दयानन्द, राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, न्यायमूर्ति शारदाचरण मित्तर, लोकमान्य गंगाधर तिलक, श्रद्धाराम फुल्लौरी, महात्मा गाँधी, इनमें से किसी की भी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी पर इन्हीं लोगों ने इस आवश्यकता का अनुभव किया कि इस विशाल देश के विशाल जन-समुदाय के बीच एक संवाद स्थापित करने की आवश्यकता है और यह संवाद ऐसी भाषा से ही स्थापित हो सकता है जो संतों, फकीरों, यात्रियों, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक जाने वाले व्यापारियों, दूर-दूर तक मुहिम पर जानेवाले सिपाहियों के आपसी व्यवहार की भाषा सदियों से रही हो। वे यह पहचानते थे कि यह भाषा किसी न किसी रूप में हिन्दी थी। यह संगीत और कला पर भी छायी रही।

स्वाधीनता के पहले दौर में अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों का काफी असर था, पर बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में जो स्वाधीनता की लहर उठी, उसमें यह अनुभव किया गया कि जब तक यह संघर्ष किसान और मज़दूर का संघर्ष नहीं होगा, तब तक संघर्ष की बात केवल वाग्जाल बनकर रह जायेगी। चम्पारन के आन्दोलन के बाद पहली बार दूर अफ़्रीका के वर्णभेद के खिलाफ सत्याग्रह की लड़ाई की दीक्षा लेकर गाँधीजी जब जुड़े, तब उन्होंने समझा कि अंग्रेज़ी से काम नहीं चलेगा। देश की स्वाधीनता के लिए जो आवाज़ लगायी जायेगी वह देश की भाषा में होगी। यह आवाज़ हर जलसे में इस रूप में लगायी जाती थी——

"सब मिल बोलो एक आवाज़
अपने देश में अपना राज।"

यह आवाज़ स्वदेशी का मंत्र बन गयी और चरखे के साथ-साथ सारे देश में प्रचारित हो गयी। भारत को अपनी स्वाधीनता-संघर्ष के साथ-साथ हिन्दी अफ्रीका के मुक्ति-आंदोलन में भी सहायक हुई। भारतीय मूल के हिन्दी-भाषियों ने पूर्वी अफ्रीका, फिज़ी, मारीशस, में दासता, वर्णभेद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध सिर उठाया, उसके सिर में सिर्फ एक चौपाई का टुकड़ा गूँज रहा था, "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं"। उन्होंने ही हिन्दी को प्रजा की भाषा वनाया और राजा को चुनौती दी, राजत्व को चुनौती दी। इस प्रकार हिन्दी आधुनिक विश्व की जो सबसे महत्वपूर्ण चेतना थी, उपनिवेशवाद से मुक्ति और सामान्य जन की गरिमा की प्रतिष्ठा, उस चेतना की प्रमुख वाहिका बनी। इसका पहले का इतिहास भी विश्व-बन्धुता और सम्यक् जीवन की मूल्यवत्ता को पहचानने का इतिहास रहा। भक्ति आन्दोलन में हिन्दी की भूमिका एक संयोजक भूमिका थी, उसने पूरे देश के भक्ति आन्दोलन को एक दूसरे से संयोजित करने का व्रत लिया था। हिन्दी के संयोजक होने के कारण ही समस्त भारत के भक्ति-आन्दोलन का स्वर एक था। उसमें जाति-पाँति, धन-धरम, कुल की बड़ाई छोटी हो गयी थी, भक्ति इन सवको फूँक करके असीम आकाश को प्रकाशित करनेवाली लौ बनी। एक प्रकार से इस हिन्दी ने जिस शक्ति की पहचान करायी, उस शक्ति की विशिष्टता यही थी कि वह साधारण व्यक्ति की, विपन्न व्यक्ति की प्रसुप्त चेतना में विशालता के वीज बो रही थी। पूरा भक्ति-आन्दोलन जन-साधारण की शक्ति की खोज है। उस आन्दोलन ने दिल्ली की सत्ता को सामन्तों की सत्ता को एक बड़ी सत्ता के आगे नगण्य वना दिया। उस बड़ी सत्ता का या तो कोई रूप नहीं था या उसका रूप एक गँवार चरवाहा था या उसका रूप एक निर्वासित पर जागरूक धनुर्धर था। स्वाधीनता आन्दोलन की यही ज़मीन थी जो एक व्यापक देश और व्यापक जीवन की आकांक्षा से पुलकित थी। यह जमीन ऊँचाइयों को महत्त्व नहीं देती थी, नीचे की ओर बहनेवाली उस तेज और गहरी धार को महत्त्व देती थी जो अपने साथ असंख्य छोटी-छोटी धाराओं को लेती हुई अनन्त महासागर की आकांक्षा से उमगती हुई, प्रत्येक छोटी धारा को, अस्तित्व को उस आकांक्षा से उमगाती हुई निरन्तर चलती रहती थी।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में इस आध्यात्मिक विशालता को एक नया मानवीय आयाम दिया गया जिसमें छोटे स्वार्थों की आहुति एक बड़े अर्थ के लिए देने की बात शुरू हुई और मरणदीपों के त्योहार की एक बाढ़ आयी, दूसरी ओर अन्याय और शोषण के विरुद्ध निरस्त्र लड़ने का साहस आया, एक वहुत बड़ी साझेदारी का बोध हुआ, जिसमें देश, मज़हब, वर्ण सब ओट हो गये और सामने आ गया एक विशाल, सामने आ गयी एक पुकार, एक दुर्निवार पुकार सारे बन्धन तोड़ो और अपने दुख को सबके दुख का अंग अनुभव करो, यह सोचो पराधीन होना पाप है। जब तक एक भी समुदाय पराधीन है, तब तक किसी भी दूसरे समुदाय की स्वाधीनता कोई अर्थ नहीं रखती। यह उल्लेखनीय है कि बिना किसी बाहर की प्रेरणा के एशिया की गरिमा की आवाज़ सबसे पहले १९०१ ई० में स्व० श्री राधाकृष्ण मिश्र ने अपनी "एशिया" कविता में की। प्रवासी भारतीयों के दुःख-दर्द की बात हिन्दी में ही उठायी गयी। बनारसीदास चतुर्वेदी, तोताराम सनाढ्य और विष्णुदयाल ने प्रवासी भारतीयों के शोषण की ओर जिस भाषा में ध्यान दिलाया वह हिन्दी थी। इस प्रकार बिना किसी राजनीतिक संरक्षण के, बिना किसी सत्ता के आश्रय के सहजभाव से हिन्दी ने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि का उन्मेष किया। इस उन्मेष में कोई दुराव नहीं था, कोई कपट नहीं था, न इसमें एक उद्धारकर्ता मसीहा का भाव था इसमें केवल सेवा का, समर्पण का भाव था। जिस विश्व-मानव की बात दो-दो विश्वयुद्धों की विभीषिका से गुज़र कर पश्चिम की मदोन्मत्त शक्तियों ने एक अपरिहार्य आवश्यकता के रूप में ली है वह बात हिन्दी में वहुत पहले दुख की वास्तविकता से करुणा की अनुभूति से उद्भासित हो गयी। हिन्दी के अन्दर अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका के लिए यह एक सशक्त आधार है। यह आधार अपने इतिहास से प्राप्त आधार है, इसीलिए सुदृढ़ है। यह आरोपित या उधार लिया हुआ नहीं है।

अधिकतर लोग समझते हैं कि संख्या का तर्क हिन्दी को राष्ट्रीय या, अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व दिलाने में एक प्रमुख कारण है, पर वे भूल जाते हैं कि संख्या का बल एक छोटा बल है, साहित्य की समृद्धता का भी

आधार एक छोटा आधार है। हिन्देशिया का उदाहरण बिल्कुल सामने है, वहाँ तेरह हज़ार द्वीपों में सबसे बड़ी आबादी का द्वीप जावा में—(जिसकी आबादी हिन्देशिया की आबादी का अस्सी प्रतिशत है) जो भाषा बोली जाती रही, जिसमें समृद्ध साहित्य सदियों से विकसित होता रहा, उसकी भाषा हिन्देशिया की राष्ट्रभाषा नहीं हुई, सुमात्रा की हुई। इसका मुख्य कारण यह था कि तेरह हजार द्वीपों को एक सूत्र में बाँधने वाली वह भाषा जावा की परिष्कृत भाषा नहीं थी। सुमात्रा की भाषा के साझीदार मलय, बोर्नियो, सिंहपुर (सिंगापुर) जैसी बाहरी परिधि के देशों के सभी नस्लों की जातियों के मज़हबों के समुदाय थे। इस प्रकार की व्यापक साझेदारी एक मुख्य कारण होती है, व्यापक स्तर पर ग्राह्य भाषा के रूप में मान्य होने के लिए हिन्दी की भी शक्ति उसकी संख्या से नहीं आयी है, न केवल उसके साहित्य के महत्त्व से आयी है, वह शक्ति आयी है तीन कारणों से। पहला कारण तो यही है कि वह सदियों से अन्तःप्रांतीय व्यवहार की भाषा थी, इसी भाषा का व्यवहार तीर्थों में होता था, व्यापारिक केन्द्रों में होता था और रमता योगियों के सत्संग में होता था। यह भाषा बहता नीर थी। दूसरा कारण हिन्दी की वह विरासत थी जो उसने अप्रत्यक्ष रूप में संस्कृत से ली और प्रत्यक्ष रूप से मध्यदेशीय प्राकृत से ली, न संस्कृत का कोई प्रदेश था न मध्य प्राकृत का। ये समस्त प्रदेशों को जोड़ने वाली भाषाएँ थीं। हिन्दी भी इसी प्रकार की संस्कृत की तरह केन्द्रोन्मुख शक्ति की स्थापना करने वाली भाषा रही। हिन्दी भाषा का देश पूरा हिन्दुस्तान है कोई एक प्रान्त या राज्य नहीं। हिन्दी की शक्ति का तीसरा कारण है उसका जनभाषाओं से गहरा संबंध। हिन्दी क्षेत्र में लगभग अठारह जनभाषाएँ हैं और इस क्षेत्र के व्यक्ति एक विचित्र प्रकार के द्विभाषाभाषी हैं। ये बहुत निजी पारिवारिक परिवेश में एक भापा बोलते हैं और एक व्यापक परिवेश में दूसरी भाषा, दोनों को साधते चलते हैं, क्योंकि दोनों प्रयोजन महत्वपूर्ण हैं, एक सीमित क्षेत्र की आत्मीयता और एक बड़े क्षेत्र के होने का भाव, हिन्दीभाषी जन इसमें से किसी का मोह छोड़ नहीं सकता इसीलिए वह निरंतर संतुलन बनाये रहता है। वह जनपद के जीवन का संस्पर्श देता है, साथ ही पूरे देश को पूरे देश की भावना का उमहाव

देता है, जनपद की भाषा का । यह आकस्मिक संयोगमात्र नहीं है कि हिन्दी में तद्भव और तत्सम शब्दों का संतुलन है, वह हिन्दी में निरन्तर सामान्य जीवन से लेने की तथा उन्हें जीवन में ढालने की क्षमता देता है और उसके साहित्य में छोटे-छोटे से अंचल की ग्रामांचल की पीड़ा को अंकित करने की तीव्र आकांक्षा भरना है । दूसरी ओर हिन्दी की बोलियों के लोक-साहित्य में लोक-गायक साहित्य में सबसे अधिक राष्ट्रीय चेतना की मुखरता है । अवधी, भोजपुरी, बुन्देली, गढ़वाली, छत्तीसगढ़ी, कौरवी, राजस्थानी किसी भी क्षेत्र को लीजिए, प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्र की एक मूर्त कल्पना है, उसके लिए न्यौछावर होने का अपूर्व उत्साह साहित्य में प्रतिध्वनित है इस आदान-प्रदान के कारण । इस लोक और शास्त्र क्षेत्र के बीच, लघु और विशाल के बीच, ग्राम और महानगर के बीच आदान-प्रदान कराते रहने के कारण ही हिन्दी एक जीवन्त भाषा के रूप में विकसित होती रही है, उसने निरन्तर कृत्रिम रूप से जड़ाऊ भाषा-रूपों का तिरस्कार किया है, भदेस की भनिति का आश्रय लेकर नयी ऊर्जा निरन्तर पायी है । आज के ज़माने में जब किंग्स इंग्लिश और क्वीन्स इंग्लिश की बात उप-हासास्पद हो गयी है, जब सत्ता का नियमन इने-गिने सामन्तों सरदारों या मैण्डरिनों (अफसरशाहों) के हाथ में नहीं रह गयी है, सत्ता का स्रोत अनाम और असंख्य जनता हो गयी है, तब सामाजिक मान्यता का आधार बदल गया है और इस बदली हुई परिस्थिति में हिन्दी भाषा का एक रूप अपने आप प्रतिष्ठापित हो गया है । विगत पच्चीस वर्षों में जितनी द्रुतगति से परिवर्तन हुए हैं उतना परिवर्तन आधुनिक विश्व की कम भाषाओं में हुआ है । परिवर्तन की यह तेज़ी ही हिन्दी की सजगता और ऊर्जस्विता का प्रमाण है । यह तेज़ी ही उसे अन्तर्राष्ट्रीयता प्रदान करने का एक पुष्ट आधार है ।

अब तक मैंने जिन आधारों की बात की है वे मुख्य रूप से सामाजिक, सांस्कृतिक आधार हैं । अब हिन्दी भाषा की संरचना की विशेषताओं की बात करना चाहूँगा जो इस तकनीकी युग में व्यापक रूप से ग्राह्य बनाने में प्रयोजक बन सकती हैं । इस भाषा की संरचना की तीन विशेषताएँ ऐसी हैं जो इस दृष्टि से बहुत

महत्त्व रखती हैं। पहली विशेषता यह है कि हिन्दी विश्लेषात्मक और संश्लेषात्मक दोनों है। न चीनी भाषा की तरह एकदम विश्लेषात्मक है और न ग्रीक, संस्कृत की तरह बहुत संश्लेषात्मक। इसमें दोनों के बीच एक संतुलन है, इसीलिए अर्थ की अस्पष्टता और संदिग्धता की गुंजाइश कम है। यांत्रिक अनुवाद की सुविधा की दृष्टि से यह गुण वहुत उपयोगी है। इसकी संरचना की दूसरी विशेषता है इसकी शब्द-रचना की क्षमता। इसमें यह अंग्रेजी से किसी माने में कम नहीं है। इसमें विभिन्न भाषाओं से उधार लिए शब्दों को यहाँ तक कि प्रत्ययों को (दार-इयत्-इक जैसे) को भी अपनी प्रकृति में ढाल देने की क्षमता है। इसके कारण सूक्ष्म अर्थ, छटाओं को व्यक्त करने की एक पारदर्शी ढंग से व्यक्त करने की क्षमता का विकास हिन्दी में हुआ है। हिन्दी को संस्कृत का एक अक्षय स्रोत प्राप्त है पर वही एक स्रोत नहीं है, उसी स्रोत से उद्‌भूत लाखों की संख्या में तद्‌भव शब्द भी उसके पास हैं। ये अनेक रूपान्तरों के बावजूद किसी न किसी रूप में हिन्दी में मानकीकृत हो गये हैं और इनमें ऐतिहासिक यात्रा के कारण नये अर्थ के वहन की क्षमता आ गयी है। यह अवश्य है कि हिन्दी की पूरी शक्ति की पूरी पहचान हमारे देश में भाषा-योजना के आचार्यों ने नहीं की, उन्होंने ऊपर से तो ज़रूर कहा कि हम संस्कृत के शब्दों के तथा प्रत्ययों के आधार पर नये शब्द गढ़ेंगे, किन्तु उन्होंने आधार संस्कृत का नहीं लिया, आधार अंग्रेजी का लिया। उन्होंने अंग्रेजी के अर्थों को संस्कृत का खोल दिया। अपने आस-पास अर्थों की तलाश नहीं की। उन अर्थों को समझने वाले मजदूरों, किसानों, मिस्त्रियों, शिल्पियों, व्यवसायियों के प्रयोग को मापने की कोशिश नहीं की। उन्होंने प्रयोग लादना चाहा जीवित प्रयोगों की पैमाइश नहीं की। एक सीमित रूप में यह काम शुरू हो गया है और यह आशा की जाती है कि अंग्रेजी की साजिश के वावजूद जनतंत्र के दबाव के कारण आगे का जो भाषा-नियोजन होगा, वह सही ढर्रे पर होगा और हिन्दी शब्द-रचना की पूरी क्षमता का भरपूर विनियोग होगा। हिन्दी की संरचना की तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी वर्णमाला है। इसी के साथ-साथ जुड़ी हुई है इस वर्णमाला को लिखने का देवनागर ढंग जो अक्षर को महत्त्व देता है, एक ध्वनि को नहीं।

अक्षर को महत्त्व देने से इकाइयों की संख्या कम हो जाती है। जब विद्युद्यांत्रिकी, सांख्यिकी, भाषाविज्ञान, संगणन-गणित और इंजीनियरिंग ये सभी मिलकर एक टीम के रूप में काम करेंगे और पुनरावृत्तियों के आरोह-अवरोह क्रम की ठीक तरह से नाप-जोख लेंगे तो हिन्दी के अक्षर-प्रधान संरचना को यंत्र में ढालना काफी सुकर होगा, अधिक सुगम होगा, उन संरचनाओं की अपेक्षा जहाँ पर ध्वनि, अनुभाज्य इकाई है। हम इस क्षेत्र में जापानी का उदाहरण दे सकते हैं। जापान ने अपनी प्रौद्योगिकी का विकास अंग्रेजी के माध्यम से नहीं किया और बहुत कम समय में उन्होंने जापानी भाषा में संगणक और बहुत सूक्ष्म और कुशल संगणक बना लिये हैं। कोई कारण नहीं कि हम भी वैसा पाँच-दस वर्षों में न कर सकें।

संयुक्त राष्ट्र संघ में अन्तर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में स्वीकार कराने में सक्रिय तटस्थता की नीति भी सहायक होगी, एक ऐसे समूह को साथ ले चलने का संकल्प हमारी विदेश नीति में है, जो समूह किसी एक गुट का पिछलग्गू बनकर नहीं रहना चाहता, जो अपनी स्वाधीनता सुरक्षित रखना चाहता है पर साथ ही साथ एक संहत शक्ति का उदय भी चाहता है। इस समय यह अधिक शक्तिशाली न लगे पर ज्यों-ज्यों बड़ी शक्तियों का उन्माद बढ़ेगा त्यों-त्यों इन देशों की भूमिका महत्वपूर्ण होती जायगी। शस्त्र-बल उस विवेक के आगे झुकने लगेगा उस समय ऐसी राजनीति का नेतृत्व करने वाले हिन्दुस्तान की भाषा की उपेक्षा नहीं की जा सकेगी।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि हिन्दी की अन्तर्राष्ट्रीय भूमिका एक स्वप्न नहीं है, नये विश्व-मानव की एक माँग है और आने वाले भविष्य की एक जाज्वल्यमान वास्तविकता है। परन्तु यह वास्तविकता केवल गर्व करने और आत्म-संतुष्ट होने के लिए नहीं है। यह प्रतिष्ठा का बोध जगाने और उस प्रतिष्ठा के अनुकूल एक बड़ी चुनौती स्वीकार करने का आमंत्रण देती है। हिन्दी-भाषी जन स्वाती की प्रतीक्षा न करें, वे अपने तप के ताप से स्वयं को बादल के रूप में रूपान्तरित करें। धरती को हिन्दी के पावस की प्रतीक्षा है।

साधारण भाषा की आवश्यकता

श्रीमन्त सरकार महाराजा गायकवाड़, बड़ौदा नरेश
जी.सी.एस.आई.जी.सी.आई.ई.,एल.एल.बी.

१. हिन्दुस्तान को एक साधारण भाषा की बहुत जरूरत है, यह निर्विवाद है। भाषारूपी अड़चनें हमारी जातीय कमजोरी के मुख्य कारण हैं।

२. वे जो इसको साफ-साफ देख रहे हैं दो संभावित विभागों में बँटे हुए हैं। एक जो दक्षिण निवासी हैं वे देख रहे हैं कि अंग्रेजी ही सब हिन्दुस्तान की सर्वसाधारण भाषा है। उनका तर्क है कि यदि हिन्दुस्तान के बुद्धिमान् पुरुषों को पश्चिम के संसर्ग में रहने और राजनैतिक, कानूनी और उच्च अभ्यास करने के लिए अंग्रेजी जानना चाहिए, तो यह ही सर्वसाधारण जनता की भाषा हो जानी स्वाभाविक है।

३. अथवा यों कहिये कि प्रत्येक हिन्दुस्तान निवासी कम-से-कम तीन भाषाएँ जाननेवाला हो, ऐसी कल्पना करनी पड़ेगी। इनमें से एक तो उसकी मातृभाषा अपने घर और सामाजिक काम के लिए, दूसरी अंग्रेजी जो पूर्ण रूप में असंबद्ध है—सार्वजनिक अन्तरप्रान्तीय व्यवहार के लिए। इन पर यदि वह हिन्दू हैं तो संस्कृत, मुसलमान हैं तो अरबी और फारसी पढ़ानी चाहिए। पिछली तीनों जबानें यदि अपने पैतृक साहित्यिक दायभाग से पृथक् होना नहीं चाहतीं तो जरूरी हैं।

४. इस प्रकार जो मन साधारण रीति से प्रतिदिन बंगाली अथवा मरहठी में काम कर रहा है, तो उस मन का एक भाग अंग्रेजी और दूसरा संस्कृत अथवा फारसी के लिए सुरक्षित होना चाहिए, ताकि वह पूर्वीय तथा पाश्चात्य संस्कृति से लाभ उठा सके। उसके उपरान्त एक सार्वजनिक भाषा की दृष्टि से अंग्रेजी भाषा पर उसका अच्छा अधिकार होना चाहिए। यदि इस प्रकार का मार्ग अनुसरण

करना हो, तो मैं स्वयं इस प्रकार से हिन्दुस्तान को संगठित देश तथा संस्कृति में उन्नति करनेवाले की कल्पना नहीं कर सकता।

५. दूसरे आन्दोलन की जड़ उत्तर हिन्द में है। इसका प्रयोजन यह है कि हिन्दी भाषा स्वाभाविक ही हमारी राष्ट्रीय भाषा है और भाषा की दृष्टि से यह प्रकट है कि एक ऐसी भाषा के प्रचार से, जिसका आधार संस्कृत हो, हमारे देशवासियों के लिए दैनिक साधारण व्यवहार की दृष्टि एवं साहित्यिक दृष्टि से काम करते हुए बहुत ही कम भेद डालेगी। हम हिन्दुओं को संस्कृत जानना चाहिए और मुसलमान फारसी भाषा में एक उचित विद्या संबंधी भाषा और हिन्दी में एक ऐसी देशी भाषा पायेंगे, जिसको वे उर्दू के वेश में व्यवहार में ला रहे हैं। यह भाषा वास्तव में अरबी और फारसी शब्दों से मिली हुई हिन्दी है। अतएव यदि हिन्दी को अपनी राष्ट्रीय भाषा मान लिया जाय तो उत्तरीय हिन्द के दो तृतीयांश के लिए इनकी दैनिक विद्या संबंधी तथा घरों में साधारण बोलचाल से संबंधित भाषाएँ होंगी। एक-दूसरे से अत्यन्त संबंधित तीन भाषाओं का ज्ञान अनेक असंबंधित भाषाओं से विशेष सुगम और संस्कृति-संबंधी अधिक उपयोगी होगा। हमारी दशा भूमध्य सागर के तट निवासियों के समान होनी चाहिए, जो लैटिन भाषा को संस्कृतिजन्य भाषा, फ्रेन्च को मातृभाषा के अधिकार से अनुभव करते हैं। यह एक अत्यन्त सामान्य अंतर विधि है। इनका दृष्टान्त यहाँ स्विटजरलैंड निवासी प्रजा का अधिक उत्साहवर्धक होगा, जिन्हें फ्रेन्च, जर्मन और अंग्रेजी भाषाएँ जाननी पड़ती हैं, अपनी निजी इनकी भाषा कोई नहीं और जिन्होंने कोई साहित्यिक सेवा भी नहीं की।

६. यदि हिन्दी को भारतवर्ष के लिए राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया जाय तो हम यह नहीं कह सकते कि हमें अंग्रेजी सीखने की आवश्यकता नहीं। हम इंग्लैण्ड तथा पश्चिम के साथ अपना संबंध त्याग नहीं सकते।

७. यह केवल विद्वानों के लिए होगा। दस लाख सुशिक्षित मनुष्यों का एक विदेशी भाषा सीखना और तीस करोड़ अनपढ़ मनुष्यों

का सीखने में बहुत भेद है। साधारण जनता हिन्दी को बड़ी सरलता से ग्रहण कर सकेगी, और अन्तरप्रान्तीय व्यवहार में अधिक वाक्पटुता परिणाम में प्राप्त कर सकेगी।

८. यह एक अत्यन्त व्यावहारिक लाभ है, परन्तु इससे अधिक उपयोगी इसका आध्यात्मिक प्रभाव है। विदेशी भाषा का सदैव उपयोग मंद प्रभावोत्पादक है। यह वाणी के स्वाभाविक लालित्य के स्थान पर शब्द-प्रयोग में वर्णसंकरता तथा बाँझपन को उत्पन्न करती हुई स्वाभाविकता और सौन्दर्य को नष्ट करती है।

९. इसके उपरान्त जो भाषा राष्ट्रीय भावों को नष्ट करती है, वह दासता को भी जन्म देती है। आइए, हम इंग्लैण्ड का दृष्टान्त लें। जब वह देश विदेशी दासता के पाशों से मुक्त हुआ, तब ही उसने विकलीफ, शेक्सपियर और मिल्टन का अंग्रेजी साहित्य उत्पन्न किया। इसी प्रकार जब जापान ने चीन का अनुकरण करना छोड़ दिया तब ही उसने अपनी संस्कृति उत्पन्न की, जिसमें सर्वप्रिय कविता, कला तथा बुशीदो के धर्म के नियम, उसके अपने प्रामाणिक जापानी भाव अर्थात् यामाटो दामाशीआई के रूप में उत्पन्न किये।

टिप्पणी

मेरे कुछ प्रबुद्ध साहित्यकार मित्रों ने श्रीमन्त महाराज गायकवाड़ के उस भाषण को जो उन्होंने दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन में दिया था, उनके एक महाराज होने के कारण कुछ शंका प्रकट की थी। शायद कुछ अन्य पाठकों को भी ऐसी शंका या आपत्ति हो। इस संबंध में मैं अपना स्पष्टीकरण और दृष्टिकोण देना आवश्यक समझता हूँ। इसी ऊहापोह के कारण यह अन्त में दिया जा सका।

हिन्दी-भाषी क्षेत्र में साहित्य और पत्रकारिता में स्वदेश-प्रेम की राजनीति का पुट आरंभ ही से था किन्तु लार्ड कर्जन के शासन में राजनीति का प्रभाव आरंभ हुआ और वह उत्तरोत्तर बढ़ता गया। उसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी साहित्यकार और पत्रकार राजनीति से ओतप्रोत होकर राजनीतिक खेमों में बँट गया। हिन्दी

क्षेत्र के लेखक वैसे ही संस्कृत कम पढ़ते थे और जो स्नातक भी हिन्दी क्षेत्र में आये वे अधिकांश संस्कृत से कोरे थे क्योंकि यहाँ के विश्वविद्यालय में बंगाल या महाराष्ट्र की तरह बी० ए० में संस्कृत या कोई अन्य प्राचीन भाषा लेना आवश्यक न था। अतएव हिन्दी वाले राजनीति ही में डूबे हुए न थे प्रत्युत सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में भी उनमें अपनी सांस्कृतिक विरासत से कम या शून्य परिचय था। अंबिकादत्त व्यास, बालकृष्ण भट्ट, माधव प्रसाद मिश्र, गोविन्दनारायण मिश्र, किशोरीलाल गोस्वामी, गुलेरी जी आदि संक्रमण काल के लेखक थे। पहले तो आनन्दमठ और बंगाल के नेताओं तथा लोकमान्य तिलक के प्रभाव से देशभक्ति या राष्ट्रीयता का बोल-बाला रहा, फिर पाश्चात्य प्रभाव, विशेषकर मार्क्स के प्रभाव से समाजवाद (जिसकी ठीक-ठीक परिभाषा समझना सामान्य जनता के लिए कठिन है) तथा साम्यवाद का प्रचार होने लगा। ये लोग "वामपंथी" कहलाने लगे। वामपंथ में भी अति वामपंथी, मध्य वामपंथी, वामपंथ की कुछ बातें स्वीकार करने वाले वाम-दक्षिणपंथी, दक्षिणपंथी, रिवाइवलिस्ट (घोर दक्षिण पुराणपंथी या दकियानूसी) कहलाने लगे। इनमें से कुछ शब्द प्रतिष्ठित, और कुछ अप्रतिष्ठत हैं। यदि कोई व्यक्ति मुझे "प्रगतिशील" (वामपंथी) कहता है तो हिन्दी क्षेत्र में मेरी प्रतिष्ठा बढ़ती है और सम्मान होता है, और यदि कोई मुझे दक्षिणपंथी, रिवाइवलिस्ट या दकियानूसी कहता है तो मेरी प्रतिष्ठा घटती है और अवमानना होती है। हिन्दी में ये शब्द शिष्ट साहित्यिक गतिविधियों की तरह उपयोग में आते हैं। मैं यहाँ केवल वर्तमान स्थिति की वस्तुस्थिति का परिचय देने ही को तटस्थ दृष्टि से लिख रहा हूँ। मेरे अपने विचार क्या हैं, उनका वर्णन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। दक्षिणपंथी विचारों का एक अंग "सामंतवाद" भी समझा जाता है। वामपंथी शब्दावली में यह अप्रतिष्ठा का शब्द है। सामन्तवाद में राजा-महाराजाओं, बड़े जमीं-दारों आदि को प्रतिष्ठित समझना भी है। वे वामपंथी दृष्टि से अवमानना के पात्र हैं और जो उनसे दूर नहीं रहता तथा उनकी बुराई नहीं करता वह वामपंथी नहीं हो सकता। वह दक्षिणपंथी है। आज औसत हिन्दी लेखक वामपंथी है। वह मार्क्स, फ्रायड, सार्त्र

आदि का अनुयायी है। वाम-वामपंथी लेनिन, स्टालिन या माओ के अनुयायी हैं, किन्तु सामान्य वामपंथी या प्रगतिशील होने के लिए सामन्तवाद का निषेध अनिवार्य है। अतएव आधुनिक हिन्दी में सामन्तवाद एक वर्जित वस्तु है।

हिन्दीवालों की इस प्रवृत्ति ने, मेरी सम्मति में, हिन्दी का बड़ा अहित किया। हिन्दी क्षेत्र के बहुत बड़े भाग (सारे राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, मध्यभारत, बिहार आदि के बहुत बड़े भाग) पर या तो इन राजाओं या दरभंगा, बलरामपुर, अयोध्या, कालाकांकर, बलिया, डुमरांव, भदावर, आवागढ़, अमेठी के जमींदारों का वर्चस्व था। हम हिन्दीवालों ने उनकी उपेक्षा की और उनका सहयोग नहीं लिया। फिर भी कितने ही राज्यों, जैसे रीवाँ, ग्वालियर, इन्दौर, कोटा, टीकमगढ़ आदि ने अपने हिन्दी-प्रेम के कारण हिन्दी को अपने राज्यों की राजभाषा बना दिया। अनेक बड़े जमींदारों ने भी अपने ढंग से हिन्दी की सेवा की। इस शती के प्रथम शतक में बरांव के जमींदार राय महावीर प्रसाद नारायण सिंह ने अपनी जमींदारी का कुछ काम हिन्दी में करना आरंभ कर दिया था। किन्तु हिन्दीवालों ने उनकी इस प्रकार की हिन्दीसेवा की उपेक्षा की।

बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात में उन दिनों "सामन्तवाद" की भावना को यह स्थान नहीं मिला था। वहाँ के साहित्यकारों का उनसे मधुर संबंध था और वे भी विद्या और अपनी भाषाओं के प्रेमी थे। इसी कारण बंगाल के राजा कहलानेवाले एक प्रबुद्ध और विद्याप्रेमी जमींदार ने शब्दकल्पद्रुम, रागकल्पद्रुम के समान अत्यन्त महत्वपूर्ण कोश और ग्रंथ प्रकाशित किये। गोंडाल के यशस्वी महाराज ने भारतीय भाषाओं में पहला विश्वकोश गुजराती में निकाला जो आज भी भारतीय भाषाओं में बेजोड़ है। महाराज अयोध्या स्वयं कवि और काव्यशास्त्र के विद्वान थे। अतएव उन्होंने स्वरचित रसकुसुमाकर प्रकाशित करके संतोष कर लिया। कालाकांकर के राजा रामपालसिंह जी ने हिन्दी का प्रथम दैनिक हिन्दोस्थान निकाल कर हिन्दी की अपूर्व सेवा की। रीवाँ, टीकमगढ़, कोटा, ग्वालियर, इन्दौर आदि ने जब हिन्दीवालों के प्रयास के

बिना स्वेच्छा से अपने राज्यों की राजभाषा हिन्दी कर दी, तो हिन्दी वालों ने उनके महत्वपूर्ण कार्य और हिन्दी सेवा की ओर शायद सामन्तवादी और प्रतिक्रियावादी या सामन्तवादी कहलाने के भय से उनके कार्यों के लिए उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा तो करना दूर, उनके कार्य की ओर अधिक ध्यान भी नहीं दिया।

श्रीमन्त महाराज सयाजीराव गायकवाड़ उस समय नरेशों में सबसे अधिक दूरदर्शी थे और भारत की सांस्कृतिक स्थिति को समझते थे। उन्होंने जो महान कार्य किये उनका संक्षिंप्त परिचय भी देने का अवकाश यहाँ नहीं है, किन्तु उनकी दृष्टि कितनी विशाल थी, और वे कितने उदार थे, उसका अनुमान हम हिन्दीवाले इतने ही से लगा सकते हैं कि अहिन्दी-भाषी राज्य के अधिपति होते हुए भी उन्होंने राजकाज में देवनागरी लिपि को चलाया और हिन्दी के पठन-पाठन को प्रोत्साहित किया। अंग्रेजी हमारी उन्नति में कितनी घातक है, इसे वे समझते थे। जब स्व० हरिऔध जी की अध्यक्षता में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन दिल्ली में हुआ तो उसमें वे पधारे थे और उसमें उन्होंने एक भाषण दिया था। वह भाषण विशेष रूप से हम साभार यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।

यह टिप्पणी लिखने की हमें इसलिए आवश्यकता पड़ी कि कई प्रगतिशील और राजनीति में अधिक रुचि लेने वाले मेरे मित्रों को मेरे द्वारा सम्पादित किसी प्रतिष्ठित संकलन में एक महाराज का भाषण देना समय की धारा के विरुद्ध होने के कारण उचित नहीं मालूम हुआ। मैं अपने को देशभक्त मानता हूँ और हिन्दी का एक सामान्य सेवक। मेरे लिए किसी भी जाति या वर्ग का व्यक्ति, जो हिन्दी का हितैषी है, वह चाहे कुली हो या करोड़पति, ईसुरी ऐसा अपढ़ हो या आचार्य द्विवेदी के समान विद्वान्, म० म० गिरिधर शर्मा हो या राहुल जी, रंक-राजा सब वरेण्य हैं। अतएव कुछ मित्रों के असंतोष का खतरा उठाकर भी मैं इसे इस संकलन में बिना किसी संकोच या क्षमायाचना के दे रहा हूँ, क्योंकि मैं इसे एक महत्वपूर्ण किन्तु उपेक्षित वर्ग के एक प्रबुद्ध प्रतिनिधि के भाषा सम्बन्धी विचार मानता हूँ। —**सम्पादक**

परिशिष्ट १

राजभाषा

अध्याय १—संघ की भाषा (भारत के संविधान से उद्धृत)—

३४३—(१) संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी। संघ के शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग होनेवाले अंकों का रूप भारतीय अंकों का अन्तर्राष्ट्रीय रूप होगा।

(२) खण्ड १—में किसी बात के होते हुए भी, इस संविधान के प्रारम्भ से पन्द्रह वर्ष की अवधि तक संघ के उन शासकीय प्रयोजनों के लिए अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाता रहेगा जिनके लिए उसका ऐसे आरम्भ से ठीक पहले प्रयोग किया जा रहा था।

अध्याय २—प्रादेशिक भाषाएँ—

३४५—अनुच्छेद ३४६ और अनुच्छेद ३४७ के उपबन्धों के अधीन रहते हुए किसी राज्य का विधान मण्डल, विधि द्वारा, उस राज्य में प्रयोग होनेवाली भाषाओं में से किसी एक या अधिक भाषाओं को या हिन्दी को उस राज्य के सभी या किन्हीं शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग की जानेवाली भाषा या भाषाओं के रूप में अंगीकार कर सकेगा :

३४६—संघ में शासकीय प्रयोजनों के लिए प्रयोग किये जाने के लिए तत्समय प्राधिकृत भाषा, एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच तथा किसी राज्य और संघ के बीच पत्रादि की राजभाषा होगी :

परन्तु यदि दो या अधिक राज्य यह करार करते हैं कि उन राज्यों के बीच पत्रादि की राजभाषा हिन्दी भाषा होगी तो ऐसे पत्रादि के लिए उस भाषा का प्रयोग किया जा सकेगा।

३५०—ख (१) भाषायी अल्पसंख्यक वर्गों के लिए एक विशेष अधिकारी होगा जिसे राष्ट्रपति नियुक्त करेगा।

३५१—संघ का यह कर्तव्य होगा कि वह हिन्दी भाषा का प्रसार बढ़ाये, उसका विकास करे ताकि वह भारत की सामासिक संस्कृति के सभी तत्त्वों की अभिव्यक्ति का माध्यम बन सके और उसकी प्रकृति में हस्तक्षेप किये बिना हिन्दुस्तानी के और आठवीं अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं के प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात करते हुए और जहाँ आवश्यक या वांछनीय हो वहाँ उसके शब्द-भण्डार के लिए मुख्यतः संस्कृत से और गौणतः अन्य भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए उसकी समृद्धि सुनिश्चित करे।

—०—

परिशिष्ट २

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कतिपय प्रस्ताव

१९३४ के इंदौर अधिवेशन का प्रस्ताव संख्या ७ :

"यह सम्मेलन हिन्दी के लेखक और विद्वानों का ध्यान दक्षिण भारत की ओर आर्कषित करता है और अनुरोध करता है कि वे दक्षिण भारत की भाषाओं का भी अन्य भाषाओं के समान अध्ययन करके दक्षिण भारतीय उच्च भावों का समावेश हिन्दी साहित्य में करें।"

प्रस्ताव १८ का अंतिम अंश :

"साथ ही यह सम्मेलन यह भी स्पष्ट करता है कि (हिन्दी) भाषा के प्रचार का उद्देश्य केवल यह है कि उसके द्वारा अंतः-प्रांतीय संबंध दृढ़ हों। उसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रांतीय भाषाओं की उन्नति में किसी प्रकार का आघात पहुँचे।"

अबोहर (१९४०) सम्मेलन का प्रस्ताव संख्या ४ :

"राष्ट्रीय सजगता के विस्तार और राष्ट्रीय भावना के उत्थान के साथ-साथ हिन्दी का राष्ट्रीय रूप दिन-दिन विकसित हो रहा है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आये हुए, तथा भिन्न-भिन्न प्रभावों से उत्पादित नये शब्दों का भी इसमें धीरे-धीरे स्वभावतः समावेश होगा। जीवित, क्रियाशील तथा हिन्दी की सार्वभौमिक प्रतिनिधि संस्था के कर्तव्यपालन में सम्मेलन इस विकास का आवाहन और स्वागत करता है।"

"राष्ट्रभाषा होने के कारण प्राचीन समय से हिन्दी सब प्रांतीय भाषाओं की बहन है, और उसके और छोटी बहनों के स्वरूप में माता (संस्कृत) का अमर सौन्दर्य झलकता है। बहनें एक-दूसरे के रूप में अपना रूप भी देखती हैं। उनका आपस का प्रेम स्वाभाविक है। बड़ी बहन, छोटी बहनों के अधिकार सुरक्षित रखती है। उसका अपना घर सब बहनों को आपस में मिलने, और मिलकर राष्ट्रोपासना करने की सुविधा देता है।"

खण्ड २

देवनागरी

देवनागरी विश्व-नागरी बने

आचार्य विनोबा

हिन्दुस्तान की एकता के लिए हिन्दी भाषा जितना काम देगी, उससे बहुत ज्यादा काम देवनागरी लिपि देगी। इसलिए मैं चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान की समस्त भाषाएँ देवनागरी में लिखी जायें। नागरी लिपि सब भाषाओं में चले—इसका मतलब दूसरी लिपियों का निषेध नहीं है, दोनों लिपियाँ चलेंगी।

नागरी 'ही' नहीं, नागरी 'भी'

भारत की राष्ट्रीय एकता और पारस्परिक व्यवहार के लिए राष्ट्रभाषा के तौर पर हिन्दी को भारतीयों ने मान्यता दी है। दक्षिण वाले भी हिन्दी के विरोधी नहीं हैं, वे जरा मोहलत चाहते हैं। जिन कारणों से 'सबकी बोली' के तौर पर हिन्दी को मान्यता दी गयी है, उन्हीं कारणों से नागरी को सबकी लिपि के तौर पर मान्यता मिलनी चाहिए। हिन्दुस्तान की अन्य भाषाएँ भी देवनागरी में लिखी जायें, ऐसा निर्णय होने पर दूसरी भाषाओं के लिए आज जो लिपियाँ चल रही हैं, उनका निषेध नहीं होगा; वे लिपियाँ भी चलेंगी और नागरी 'भी' चलेगी।

मुझे दस-ग्यारह साल पहले यह सूझा और इस पर बोलना-लिखना मैंने शुरू किया, लेकिन इस वक्त मैं यदि किसी के बारे में तीव्र हूँ तो वह है देवनागरी लिपि का प्रचार।

जोड़ लिपि के लाभ

यूरोप में आज कॉमन मार्केट हो रहा है, यूरोपियन इकोनामिक कम्युनिटी (ई० ई० सी०) बन रही है। कॉमन मार्केट बनाने में उन्हें आसानी इस कारण हुई क्योंकि वहाँ लिपि एक थी। मैंने

इंग्लिश और फ्रेंच के अलावा जर्मन, लेटिन और एस्पेरेण्टो बहुत थोड़े समय में सीखी। यह सब आसानी से क्यों हो सका ? इसलिए कि लिपि एक थी।

भारत में वह चीज है जो यूरोप में नहीं है। भारत पन्द्रह-सोलह भाषाओं का एक देश है। यूरोप में हरेक भाषा का अलग-अलग देश है। समाजशास्त्र में यूरोप हमसे पीछे है, विज्ञान में भले ही आगे हो। लेकिन वे धीरे-धीरे एक हो रहे हैं। भारत में हमने सोलह भाषाओं का एक देश बनाया जो बड़ी बात है। पहले संस्कृत भाषा थी जो सबको जोड़ती थी। शंकराचार्य केरल से लेकर काश्मीर तक घूमे, तो संस्कृत का आधार लेकर घूमे। रामानुजाचार्य भी संस्कृत का आधार लेकर सारे भारत में घूमे। उन दिनों संस्कृत ही चलती थी, इसलिए एक ही लिपि चलती थी––ब्राह्मी लिपि। बाद में नागरी लिपि आयी। उसके बाद जब अलग-अलग भाषाएँ बनीं तो अलग-अलग लिपियाँ आयीं। आज भिन्न-भिन्न प्रदेश के लोग लिपि-भेद के कारण अलग हुए हैं। दक्षिण की चार भाषाओं की चार लिपियाँ हैं। अगर एक लिपि हो तो चारों प्रान्तों वाले एक दूसरे की भाषा पन्द्रह दिन में सीख सकते हैं। उनकी भाषाओं में बहुत-से शब्द समान हैं और संस्कृत के शब्द तो समान हैं ही, लेकिन लिपियाँ चार हैं। इसलिए एक दूसरे की भाषा सीखना कठिन है।

निरभिमान वृत्ति से सोचें

डॉ० उमाशंकर जोशी ने, जो गुजरात के बहुत बड़े विद्वान हैं, मुझे पत्र लिखा कि सामान्य लिपि के तौर पर अगर हम रोमन लिपि को स्वीकार करें तो अच्छा होगा। इसी प्रकार रोमन लिपि स्वीकार करने के बारे में हिन्दुस्तान के दूसरे लोगों ने भी कहा है। मुझे यह सुनकर बड़ी खुशी होती है, क्योंकि भारतीय होते हुए भी वे अभिमान नहीं रखते। निरभिमान वृत्ति से विश्वकल्याण की दृष्टि से जो उचित लगता है, वह जाहिर कर देते हैं। इसलिए मुझे उन भारतीयों के लिए बड़ा आदर है जो कि रोमन लिपि का सुझाव देते हैं, उनकी निरभिमान और निरहंकार वृत्ति के कारण।

लिपि सुधार

बाबा भी नागरी लिपि पर जोर देता है वह अभिमान के कारण नहीं है। वह निरभिमान वृत्ति से सोचता है। मालूम होता है कि वह काफी पूर्ण लिपि है। फिर भी इसका यह मतलब नहीं कि उसमें सुधार की गुंजाइश नहीं है। कुछ सुधार तो करने ही पड़ेंगे। किन्तु प्रथम सुधार नहीं। प्रथम स्वीकार। स्वीकार के बाद सुधार। नहीं तो क्या होगा? यह गांधीजी ने कह रखा है। उन्होंने गुजराती में कहा—बावा ना बेऊ बगडे। यदि हम लिपि सुधारने में लगेंगे और बाद में देवनागरी चले ऐसा सोचेंगे तो वह चलने वाली नहीं है। क्योंकि सुधार के फेर में पड़ेंगे तो दोनों बिगड़ेंगे। इस वास्ते सारा भारत स्वीकार करे, तो फिर सुधार करना कठिन नहीं, वह किया जा सकेगा। तो बाबा ने निरभिमान और निरहंकार वृत्ति से ही देवनागरी लिपि सुझायी।

वास्तव में बाबा तो सर्व लिपियों का विरोधी है, लिपि मात्र का विरोधी। एक दफा एक भाई ने पूछा कि "अगर आपको पुनः जन्म मिले तो आप क्या करेंगे?" तो मैंने कहा कि पुनर्जन्म पाने का बाबा का विचार तो नहीं है, फिर भी यदि भगवान् ला देगा तो स्वीकार करना ही पड़ेगा, तो फिर जो गलतियाँ इस जिन्दगी में कीं, वे अगले जन्म में करूँगा नहीं। तो उन्होंने पूछा, "क्या गलतियाँ आपने कीं?" मैंने कहा—दो गलतियाँ कीं। एक, मैं स्कूल में गया; और दूसरी, पढ़ना-लिखना सीखा। ये दो बड़ी भारी गलतियाँ मेरी हुईं। पढ़ना-लिखना सीखा, इसके कारण क्या हुआ? आत्म-साक्षात्कार के काम में काफी बाधा आयी! बहुत ज्यादा समय लग गया। अगर पढ़ना-लिखना सीखा नहीं होता, लिपि कुछ जानता नहीं तो प्रगति जल्दी होती। ऐसे दो बड़े ज्ञानी हो गये दुनिया में जो लिपियों से मुक्त थे। एक थे निरक्षर कबीर और दूसरे पैगम्बर मुहम्मद। दोनों निरक्षर थे और दोनों का असर बहुत पड़ा है। कबीर का असर कुछ भारत पर पड़ा और मुहम्मद पैगम्बर का तो दुनिया पर पड़ा। इस वास्ते लिपि-मात्र का विरोध करने वाले बाबा का यह दुर्दैव है कि वह साक्षर है और एक नहीं, कम-से-कम १२-१५

लिपियाँ जानता है। लिपियाँ सीखने में वह अपनी आँख विगाड़ चुका। इस वास्ते दयाभाव से सोचता है कि दूसरों की आँख ऐसे न विगड़े। इसलिए सोचता है कि एक लिपि, कम-से-कम भारत-भर में हो जाये तो बहुत अच्छा होगा।

विश्व रोमन

इतना कहने के बाद रोमन लिपि के बारे में दो बातें कहूँगा। रोमन लिपि इंग्लिश भाषा के लिए भी अत्यन्त खराब है। उस लिपि में बिल्कुल अराजकता चलती है। बी-यू-टी बट और पी-यु-टी पुट। ऐसी अराजकता से जार्ज बर्नार्ड शा इतना तंग आ गया कि उसने आखिर यह सोचकर कि अंग्रेजी भाषा के लिए रोमन लिपि नहीं होनी चाहिए, लिपि-सुधार के लिए अपनी विल में, मृत्यु-पत्र में पैसा रखा। उस पैसे के आधार पर अनेक लोगों ने लिपि-सुधार सुझाये। कुछ-एक मान्य भी हो गईं। लेकिन वह चली नहीं क्योंकि लाखों की तादाद में लिंक भाषा में यानी अंग्रेजी में रोमन लिपि में बहुत कुछ लिखा जा चुका है तो कौन शिकायत करने वाला था उसकी? (लेकिन आखिर वह जो लिपि मान्य हुई थी उसकी एक प्रति "लंदन टाइम्स" ने बाबा के पास भेजी थी; वह रखी हुई है मेरे पास)। उसका अर्थ यह हुआ कि रोमन लिपि बिल्कुल काम की नहीं ऐसा बर्नार्ड शा जैसा महापुरुष, विद्वान मानता था। लेकिन फिर भी मैं रोमन लिपि के लिए तैयार हूँ—विश्व रोमन के लिए। आज जो रोमन चलती है सो नहीं, विश्व-रोमन; बशर्ते कि इंग्लिश, फ्रेंच आदि तैयार हों। यह सुनने के बाद बहुत लोगों को आश्चर्य मालूम होता है कि इंग्लिश, फ्रेंच वगैरा में तो रोमन लिपि है ही। मैं भी कहता हूँ कि रोमन है, पर विश्व रोमन नहीं है। विश्व रोमन जो लिपि होगी उसमें एक उच्चारण के लिए एक वर्ण होगा और एक वर्ण के लिए एक उच्चारण होगा।

रोमन लिपि की क्या हालत है? एक वर्ण के अनेक उच्चारण हैं। जैसे 'जी' है। उसका एक उच्चारण है 'ग', दूसरा उच्चारण है 'ज'। एक 'जी' के दो उच्चारण। एक वर्ण के अनेक उच्चारण

का एक उदाहरण। और एक ध्वनि के लिए अनेक वर्ण हैं। जैसे 'स' है। 'स' 'सी' में मिलेगा। और 'एस' में मिलेगा। और 'सी' में भी मिलेगा। जैसे साइकोलॉजी है। इस वास्ते जितना पूर्ण अराजक है वह उसमें है। यदि वे इस विश्व रोमन के लिए तैयार हो जायें कि निश्चित वर्ण का निश्चित उच्चारण, तो फिर जो तय होगा तदनुसार लिखना होगा। अगर यह तय होगा कि 'ओ' का उच्चारण 'आ' और 'ए' का उच्चारण 'अ' करना है तो डी-ओ-टी-ए-आर 'डाटर' होगा आज जैसा लम्बा-चौड़ा डॉटर बनता है उतनी लम्बी-चौड़ी कन्या नहीं होगी। कन्या का आकार छोटा हो जायगा। (शायद कन्याएँ पसन्द करेंगी छोटा आकार)। इसके लिए इंग्लिश लोग कतई तैयार नहीं हैं। इसका अर्थ विश्व रोमन के लिए वे तैयार नहीं हैं। अगर वे तैयार हो जायें तो बाबा तैयार है।

इंग्लिश भी नागरी में सीखें

एक बात और, जिसका आचरण मैंने खुद किया है। मैं उर्दू सीखना चाहता था तो प्रथम उर्दू की किताब जो नागरी में मिली वह मैंने ले ली और नागरी लिपि में उर्दू उत्तम सीख ली। उसके बाद उर्दू लिपि भी सीख ली। वैसे ही भारत में जो लोग महाराष्ट्र में, गुजरात में, बंगाल में इंग्लिश सीखना चाहते हैं उनको प्रथम इंग्लिश नागरी लिपि में सीखनी चाहिए। नागरी लिपि में इंग्लिश अच्छी आ जाये तो उसके बाद रोमन लिपि भी सीख सकते हैं। यह शिक्षण की दृष्टि से उत्तम प्रक्रिया होगी। एकदम दूसरी भाषा और दूसरी लिपि एक साथ सीखना गलत है। प्रथम हमारी परिचित लिपि में नयी भाषा सीखनी चाहिए, अगर हो सकता है तो। वैसी ही कोशिश बाबा ने हर भाषा के बारे में की। तेलुगु कैसे सीखी? मैंने पूछा कि तेलुगु भाषा में नागरी लिपि में लिखा कोई ग्रन्थ है क्या? तो बोले संस्कृत गीता तेलुगु लिपि में लिखी उपलब्ध होती है—तो वह मैंने ले ली। उस पर से तेलुगु की सारी लिपि का अभ्यास मुझे हो गया। इसी प्रकार से भाषाएँ सीखने की कोशिश की—जिस लिपि का मेरा परिचय है उस लिपि से, उसके बाद उनकी लिपि से। जहाँ तक हो सकता था वहाँ तक यह प्रक्रिया की; जहाँ नहीं हो सका वहाँ नयी

लिपि से सीखी। तात्पर्य यह है कि मै चाहता हूँ कि अंग्रेजी भाषा सीखने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थी भी प्रथम नागरी लिपि में उत्तम अंग्रेजी सीख लें।

नागरी का क्षेत्र

इसके मानी यह नहीं कि नागरी लिपि परिपूर्ण लिपि है या उसमें सुधार की गुंजाइश नहीं है। नागरी लिपि में सुधार की जरूरत है ऐसा मानने वालों में मैं भी शुमार हूँ। परन्तु लिपि-सुधार का मेरा सुझाव है, आग्रह नहीं। लिपि-प्रचार का मेरा आग्रह है। आग्रह के मानी यह न समझा जाय कि मैं उसे किसी पर लादना चाहता हूँ। लादने वाली बात अहिंसा में आती ही नहीं। मेरा तो मानना है कि अगर भारत की सभी प्रान्तीय भाषाएँ देवनागरी लिपि को भी स्वीकार कर लें तो आगे चलकर चीन, जापान जैसे देश भी उसे स्वीकार कर लेंगे। मैं जानता हूँ कि देवनागरी लिपि जावा, सुमात्रा आदि दक्षिण-पूर्व एशिया की सभी भाषाओं के लिए अपनायी जा सकती है। यह सबका-सब नागरी का क्षेत्र है।

जापानी भाषा की लिपि चित्रमय लिपि है। इसलिए उसके शब्द-चित्रों की संख्या लगभग दो हजार है जिसे सीखना सरल काम नहीं है। इसलिए वे लोग नयी लिपि की खोज कर रहे हैं। यही बात चीनी भाषा के सम्बन्ध में भी है।

लिपि एक होने का लाभ

चीनी लोगों की जो अक्ल है वह हमको नहीं है। चीनी वालों ने जाहिर किया कि दुनिया भर में चीनी भाषा बोलने वाले सत्तर करोड़ हैं। बेचारी हिन्दी का नम्बर बहुत नीचे है, पाँचवीं, छठी या सातवीं भाषा हो गयी है। इसका कारण क्या ? हिन्दी वाले लोगों की अपनी अक्ल। सेन्सस में अपनी भाषा लिखानी पड़ती है तो राजस्थान वालों ने राजस्थानी लिखायी, बिहार के लोगों ने मैथिली, भोजपुरी आदि-आदि लिखायीं, हिन्दी नहीं, अगरचे वे हिन्दी की ही अंगभूत हैं। वैसे देखा जाये तो मराठी वालों की अक्ल थोड़ी ठीक

थी। अगर न होती तो खानदेशी, वर्हाडी, कोंकणी ऐसी बातें बोलते और मराठी के भी तीन-चार टुकड़े हो जाते। लेकिन हिन्दी वालों की यह अक्ल है। हिन्दी भाषा दुनिया की भाषा नम्बर दो की मानी जा सकती थी—एक इंग्लिश, दो हिन्दी। पर अब उसका पाँचवाँ या सातवाँ नम्बर लग गया।

अब चीन वालों की खूबी देखिए। मैंने चीनी भाषा सीखने की कोशिश की। जापानी तो अच्छी तरह जानता हूँ, लेकिन चीनी भाषा सीखने में जो बाधा आयी वह मेरे लिए अनुकूल हो गयी। मैंने चीनी भाषा सीखना शुरू कर दिया उसमें करीब दो हजार चित्र हैं। सारे चित्र पहचानना होता है और मैंने उससे मराठी पढ़ना शुरू कर दिया। लिपि चीनी और भाषा मराठी। क्योंकि वह चित्र लिपि है, इस वास्ते उन चित्रों को पहचान लेने पर अपनी भाषा पढ़ सकते हैं। तो चीनी नाम की कोई भाषा है ही नहीं। सत्तर करोड़ लोग एक भाषा बोल नहीं सकते। यह अशक्य वस्तु है। यह सब लोग जानते हैं कि जगह-जगह उच्चारण में भेद होता है, फर्क होता है, हवा का परिणाम होता है, सूर्यकिरणों का परिणाम होता है। जिस प्रकार की आबोहवा आइसलैंड में होगी वह महाराष्ट्र में हो नहीं सकती। इस वास्ते इतने बड़े क्षेत्र में ७० करोड़ लोग एक ही भाषा बोल सकते हैं, यह सम्भव ही नहीं। एक लिपि उनकी है, उस लिपि में अपनी-अपनी भाषा वे पढ़ लेते हैं, उस लिपि के द्वारा समझ लेते हैं। इतनी ही बात है। सामने सूर्य का चित्र रख दिया तो कोई कहेगा सूर्य, कोई कहेगा सन और कोई कहेगा सूरज। हर कोई अपना-अपना बोलेगा। ऐसी स्थिति में यदि चीन और जापान देवनागरी लिपि को अपना लेते हैं तो इसमें उनका ही भला है। पर यह आगे की बात है। लेकिन कम-से-कम भारत का क्षेत्र नागरी में आये।

भ्रम न रहे ?

इसलिए हमारा कहना यह कि उत्तर भारत वाले कन्नड़ या दूसरी भाषा सीखने के लिए देवनागरी का उपयोग करें। केवल उत्तर वाले नहीं, कन्नड़ वाले तमिल सीखना चाहें, तेलुगु वाले या

मलयालम वाले सीखना चाहें तो वे भी नागरी में सीखें । सब के लिए नागरी लिपि अनुकूल होगी । नहीं तो, केरल वाले को तमिल सीखने के लिए तमिल लिपि और गुजराती सीखने के लिए गुजराती लिपि, कन्नड़ सीखने के लिए कन्नड़ लिपि और तेलुगु सीखने के लिए तेलुगु लिपि सीखनी पड़ेगी । इस वास्ते अगर ये सब भाषाएँ नागरी लिपि में भी प्रकाशित की जायेंगी तो तमिलनाडु के लिए नहीं, दूसरे प्रान्तों को तमिल सीखने के लिए नागरी मदद देगी । वैसे ही तमिल वालों को दूसरी भाषा सीखने में नागरी मदद देगी । तमिल वालों को तमिल सीखने के लिए नागरी चाहिए ऐसा बाबा ने कभी नहीं सोचा । कन्नड़ वालों को कन्नड़ सीखने के लिए नागरी चाहिए ऐसा नहीं कहा । उन-उन भाषाओं को अपनी-अपनी भाषा सीखने के लिए उनकी अपनी-अपनी लिपियाँ कायम रहें, प्रलय तक, तो बावा को कोई हर्ज नहीं । परन्तु हिन्दोस्तान बड़ा मुकाम है, इसमें १५-१६ विकसित भाषाएँ हैं, हजारों वर्षों का साहित्य है । वह सारा एक-दूसरे की भाषा सीखने के लिए अनुकूल पड़ेगा, अगर वह नागरी में छापा जाये तो ।

फिर से दोहराता हूँ—नागरी लिपि अन्य भाषा सीखने के लिए जरूरी है, अपनी भाषा सीखने के लिए नहीं । अगर आपको अन्य भाषा सीखनी ही नहीं है तो मैंने पहले ही कह दिया है, आपको अपनी भाषा भी नहीं सीखनी है तो बाबा को हर्ज नहीं है । बाबा सर्व लिपि-विरोधी है । जैसे कबीर ने कहा, समझ में नहीं आता कि कोरा कागज लेते हैं और उस पर काली स्याही फाँसते हैं । कैसे मूर्ख लोग हैं ! इतना अच्छा कागज लिया, कितना सुन्दर था, उस पर मसि छाप दी । काली स्याही पोत दी और उसको लिपि कहते हैं । क्यों ? पढ़ने के लिए । कबीर कहता है कि ढाई अक्षर प्रेम का सीख लो, बाकी कुछ सीखने की जरूरत नहीं है । तो, बाबा उसे जानता है । मूलतः एक भी लिपि सीखने की किसी को जरूरत नहीं है । हरेक को यह हक होना चाहिए कि वह अपने बच्चे को निरक्षर रख सके । निरर्थक बनना हम नहीं चाहते, सार्थक बनना चाहते हैं । लोग बनते हैं साक्षर और निरर्थक । मैं चाहता हूँ कि मैं

बनूँ निरक्षर और सार्थक। ऐसे सार्थक महापुरुष हो गये अपने देश में और दूसरे देश में भी जिसका जिक्र मैं कर चुका हूँ। इसलिए बाबा का लिपि मात्र के लिए आग्रह नहीं हैं। फिर भी आप लोगों को यदि एक-दूसरे की भाषा सीखनी है और सीखनी तो होगी ही, क्योंकि इतना बड़ा देश है, इतना बड़ा साहित्य है और सब को इकट्ठा रहना है, इस वास्ते सीखनी पड़ेगी, उसके लिए देवनागरी लिपि आ सकती है।

पंचविधि उद्देश्य

अब अन्त में अपनी बात फिर से दुहराता हूँ। मैं 'भी' वादी हूँ, 'ही' वादी नहीं। देवनागरी ही चले नहीं कहता हूँ, देवनागरी भी चले कहता हूँ। यह पहली बात है जिससे भ्रम दूर हो जाये।

१. मेरा पहला उद्देश्य है कि दक्षिण की चार भाषाएँ नजदीक आयें। कन्नड़ के उत्तम साहित्यकार हैं—वेन्द्रे, कारन्त, पुट्टप्पा आदि। इनका कुछ भी साहित्य तमिल वाले पढ़ते नहीं। अगरचे तमिल और कन्नड़ बिल्कुल नजदीक हैं। वे कहेंगे परप्परपल्ली, ये कहेंगे हरपनहल्ली। वे कहेंगे पाल, ये कहेंगे हालु। हालु यानी दूध। मेरा प्रथम उद्देश्य है कि दक्षिण की चारों भाषाएँ बिल्कुल नजदीक आ जायें। एक-दूसरे का साहित्य एक-दूसरे पढ़ें। इससे पन्द्रह दिन के अन्दर-अन्दर पूरी एकता उनकी हो जायेगी।

२. सारा उत्तर भारत एक हो जाये। नाहक अलग-अलग लिपि न चलायें।

३. दक्षिण और उत्तर भारत एक हो जायें।

४. भारत और एशिया एक हो जायें।

५. भारत और विश्व एक हो जायें। यह पाँचवाँ कार्यक्रम तब शुरू होगा, जब विश्व की एकता लाने की बात होगी, वहाँ मैं नागरी के साथ रोमन—ऐसा मान सकता हूँ वह होगी विश्व रोमन।

ठोस कार्यक्रम

इसका आरम्भ कहाँ से हो? हमने सोचा कि हमारी सर्वोदय पत्रिकाएँ नागरी में छपें। प्रेरणा दी और गुजराती, बंगला, कन्नड़,

तेलुगु, पंजाबी, उड़िया की सर्वोदय पत्रिकाएँ देवनागरी में प्रकाशित हो रही हैं। गीता प्रवचन के जो अनुवाद भिन्न-भिन्न भाषाओं में हुए, उनको मेरे सुझाव पर सर्व सेवा संघ ने देवनागरी में प्रकाशित किया है। इनके सहारे घर बैठे हम एक-दूसरे की भाषाओं का अध्ययन कर सकते हैं। मेरी सिफारिश है कि जो गैर-पंजाबी और गैर-तेलुगु लोग हैं, वे नागरी लिपि में छपे हुए तेलुगु और पंजाबी गीता-प्रवचन जरूर खरीदें। समझ न सकें तो भी पढ़ें। दो-चार-दस मिनट अपनी आँख उन अक्षरों पर से घुमायें। इससे मालूम होगा कि हमारी भाषाओं में कितना साम्य है। इससे परस्पर प्रेम पैदा होगा। जरा-सी मेहनत करेंगे तो आप देखेंगे कि कम-से-कम उत्तर हिन्दुस्तान की भाषाएँ दो-चार-पाँच दिन में ही सीख सकते हैं। मैं सिफारिश करता हूँ कि कुछ किताबें अनेक भाषाओं में तुरन्त नागरी लिपि में भी निकालें। इस प्रकार का उपक्रम सर्व सेवा संघ ने किया है।

नागरी की लोकप्रियता

भिन्न-भिन्न लिपियाँ भारत में चलती हैं। उन सब की अपनी-अपनी खूबियाँ हैं। मैं सब से कहता हूँ कि आपकी भाषा नागरी में भी लिखी जायँ तो सारे भारत के शिक्षितों को जोड़ने में मदद मिलेगी। नागरी लिपि पूर्ण है, ऐसा किसी का दावा नहीं है और दुनिया की कोई लिपि पूर्ण है भी नहीं। लेकिन जो लिपियाँ हमारे यहाँ मौजूद हैं उन सव में थोड़े से फर्क से जो पूर्ण हो सकती है वह नागरी लिपि है। दो-तीन अक्षरों की जरूरत है। भारत की सब भाषाएँ नागरी लिपि में व्यक्त करने के लिए नुक्ते और जरा स्वर-भेद की जरूरत है। इतना कर लिया जाय तो नागरी लिपि हिन्दुस्तान की सब भाषाओं में तो चल ही सकती है, जापानी और चीनी भाषाओं के लिए भी चल सकती है। ऐसी है इसकी शक्ति। सारे एशिया को प्रेम से जोड़ना चाहें तो मैं बौद्धों से कहूँगा कि वे त्रिपिटक को नागरी लिपि में लायें। पाली भी भारत की अपनी भाषा है। पाली और संस्कृत में क्या फर्क है? पड़ोसी देश नेपाल है जहाँ का सारा कारोबार नागरी में चलता है। संस्कृत, मराठी और हिन्दी तो है ही, गुजराती भी नागरी है। बंगला आदि दूसरी

लिपियाँ हैं जो नागरी के बहुत नजदीक हैं। अगर हम लोगों में भारत के प्रति प्रेम है तो नागरी में दूसरी लिपियों का साहित्य लाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

दक्षिण प्रदेश

इस सिलसिले में एक बात ध्यान में लेनी चाहिए कि देवनागरी लिपि दक्षिण वालों को अरुचिकर होगी, यह बिल्कुल गलत कल्पना है। मेरी मातृभाषा संस्कृत है, ऐसा सेन्सस में लिखाने वाले तमिल-नाडु और केरल में हैं। कुम्भकोणम के कुछ लोगों ने सेन्सस में लिखाया कि हमारी मातृभाषा संस्कृत है। इसी तरह केरल के पाल-घाट वालों ने लिखाया, संस्कृत मेरी मातृभाषा है। यह कहने वाला उत्तर में कोई नहीं है। जो थोड़े से हैं, २५-३० हजार, वे दक्षिण में हैं। इस वास्ते किसी को यह भ्रम होगा कि संस्कृत भाषा, जो नागरी में ही आजकल चलती है, दक्षिण के लिए अरुचिकर है। यह गलत बात है। आपको मालूम होगा कि संस्कृत में एक दैनिक पत्रिका निकलती है, उसका नाम है सुधर्मा। यह खूब अच्छी तरह निकल रही है, बिल्कुल मॉडर्न से मॉडर्न विषय उसमें संस्कृत भाषा में छपते हैं। वह निकलती है मैसूर से, कर्णाटक से।

हाँ, नागरी अरुचिकर हो सकती है गलतफहमी के कारण। कौन-सी गलतफहमी? देवनागरी और हिन्दी की। कुछ लोग देव-नागरी को हिन्दी लिपि कहते है। असल में उसका हिन्दी के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, मराठी भी उसमें लिखी जाती है, संस्कृत भी लिखी जाती है, अर्धमागधी लिखी जाती है, पाली लिखी जाती है। प्राचीन भाषाओं में संस्कृत, अर्धमागधी और पाली। और अर्वाचीन भाषाओं में मराठी तो है, बाकी उत्तर भारत की जो भाषाएँ हैं वे भी थोड़े-थोड़े फर्क के साथ नागरी में ही लिखी जाती हैं। इस वास्ते हिन्दी का देवनागरी से कतई ताल्लुक नहीं है। उसे हिन्दी लिपि कहने से भ्रम पैदा होता है। दरअसल देवनागरी सारे भारत को जोड़ने वाली लिपि है।

देवनागर की भावना

[स्व० न्यायमूर्ति श्री शारदा चरण मित्र द्वारा स्थापित एक-लिपि विस्तार परिषद, के द्वारा प्रकाशित मासिक 'देवनागर' का प्रथम अंक का प्रथम लेख जो संभवतः उन्ही के द्वारा लिखा गया हैं। —**सम्पादक**।]

मनुष्य स्वभाव से ही एकता का प्रेमी है। अद्वितीय परमात्मा का अंश होने के कारण चित्र विचित्र पटावलम्बित संसार को एकता के सूत्र में गूँथने की इच्छा उसे सदा बनी रहती है। वह यही चाहता है कि अपना मण्डल दूर तक फैले; इसी में विविध वस्तुओं का समागम हो; उच्च, नीच, सम तथा बाल, युवा, वृद्ध आदि अपने-अपने स्थान पर इसी मंडल में सुशोभित हों और सब भेदभावों को भूलकर परस्पर के प्रेम से प्रेमानन्द स्वरूप अद्वैत ईश्वर में एक हो जायँ ! मनुष्य की यही स्वभावजात अभिलाषा भाषाओं को एक करने के विषय में भी चरितार्थ होती है।

जगद्विख्यात भारतवर्ष ऐसे महाप्रदेश में जहाँ जाति, पाँति, रीति, नीति, मत आदि के अनेक भेद दृष्टिगोचर हो रहे हैं, भाव की एकता रहते भी भिन्न-भिन्न भाषाओं के कारण एक प्रान्तवासियों के विचारों से दूसरे प्रान्तवालों का उपकार नहीं होता ! इसमें सन्देह नहीं कि भाषा का मुख्य उद्देश्य अपने भावों को दूसरों पर प्रगट करना है। इससे परमार्थ ही नहीं समझना चाहिए अर्थात् मनुष्य को अपना विचार दूसरों पर इसीलिए प्रगट नहीं करना पड़ता है कि उससे दूसरे का ही लाभ हो किन्तु स्वार्थसाधन के लिए भी भाषा की बड़ी आवश्यकता है। इस समय भारतवर्ष में अनेक भाषाओं के प्रचार होने के कारण प्रान्तिक भाषाओं से सर्वसाधारण का लाभ नहीं हो सकता। भाषाओं को शीघ्र एक कर देना तो परमावश्यक होने पर भी दुस्साध्य-सा प्रतीत होता है। परन्तु इस अवस्था में भी जब यह देखा जाता है कि अधिकांश लोग काश्मीर से कुमारिकाअन्तरीप और ब्रह्मदेश से गान्धार पर्यन्त हिन्दी या इसके रूपान्तर का व्यवहार

करते हैं तब आशा है कि सबकी चेष्टा तथा अभिरुचि होने से कालान्तर में प्रान्तिक भाषाओं के सम्मिलन से एक सार्वजनिक नूतन भाषा का आविर्भाव हो जायगा। कारण यह कि भारत की सभी प्रान्तिक भाषाएँ एक ही जननी संस्कृत से उत्पन्न हैं। यह कार्य थोड़े समय में सिद्ध नहीं हो सकता, इसके लिये प्रत्येक प्रान्त के निवासियों को तन-मन-धन से चेष्टा करनी होगी! इसे प्रारम्भ में ही असम्भव या हास्यास्पद कह कर त्याग देना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है।

संसार का नियम है कि कठिन-से-कठिन कार्य भी अभ्यास और परिश्रम से सिद्ध हो जाता है। उन्नतिशील देश में अच्छे कार्य के अङ्कुर लगा देने पर साधारण सिंचाई से भी वह फल देता है। कई प्रकार की उन्नति की चेष्टाएँ इस समय इस देश में हो रही हैं। ब्रिटिश शासन का यह शांतिमय सुसमय पाकर एक ऐसा वृक्ष भी रोपना चाहिए जिसमें एक भाषा रूपी सर्वप्रिय फल फले! भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्त की भिन्न-भिन्न बोलियों को एक लिपि में लिखना ही उस आशानुरूप फल का देनेवाला प्रधान अङ्कुर है। क्योंकि अनेक प्रान्तिक बोलियों के सरल करने की पहली सीढ़ी उन्हें एक सामान्य सर्वसुगम लिपि का वस्त्र पहनाना है जिस रूप में वह अपने चित्र विचित्र लिपियों का परिच्छेद छोड़कर एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त के सन्मुख आने पर सहज में पढ़ी जा सकें और थोड़े ही परिश्रम से समझी जा सकें। यह बात निर्विवाद है कि भाषा का प्रचार बढ़ने से उसकी उन्नति भी अवश्य होती है। इससे साहित्य के पाठक तथा लेखक आदि सभी का लाभ होता है। किसी बुद्धिमान की युक्ति-युक्त तथा पक्षपातशून्य ऐसी सम्मति नहीं हो सकती कि लिपि के परिवर्तन से प्रान्तिक बोली पर आघात पहुँचता है। इसके लिए सभ्य जगत उदाहरण है जहाँ की भिन्न-भिन्न बोलियाँ एक सामान्य लिपि में लिखी जाती हैं। जैसे जर्मन लिपि लिखने-पढ़ने में आँख के लिए अत्यन्त हानिकारक है अतएव विज्ञान आदि की पुस्तकें सब रोमन अक्षरों में छापी जाती हैं।

बहुतेरे प्रचलित अक्षरों में से चुनकर एक को सर्वसम्मत बनाने के लिए कई बातों का विचार कर लेना आवश्यक है जिनमें प्रधान यह है कि कौन-सी लिपि उस देश के प्रायः सभी प्रान्तों में प्रचलित है अर्थात् किस एक लिपि के प्रचार करने से सभी प्रान्तों को अपनी-अपनी प्रान्तिक भाषाओं को लिखने में विशेष कष्ट नहीं होगा। सौभाग्यवश भारत के पढ़ेलिखे लोगों के चित्त में भी यह प्रश्न उठने लगा कि इस अनेक भाषी देश में भी कोई एक लिपि प्रचलित हो सकती है, यदि हो सकती है तो वह कौन-सी लिपि है जो भारत की सभी बोलियों को अपने रूप में लेकर सुधार देगी ! इन प्रश्नों के समाधान करने से यही सिद्धान्त स्थिर हुआ कि देवनागराक्षर में ही यह विशेषता है कि वह भारतीय सभी भाषाओं के शब्दों को शुद्ध-शुद्ध स्पष्ट प्रगट कर सकती और पढ़ने में व्यर्थ समय भी नष्ट नहीं होने देती। इसमें सन्देह नहीं कि एक प्रान्त के रहनेवाले अपनी ही लिपि को सरल समझते हैं किन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि सभी भाषाओं के लिए एक ही लिपि चलाना अभीष्ट है, इस विचार से देवनागराक्षर की ही भारत की उपयुक्तता मानी जाती है। इसके सीखने में अधिक समय भी नहीं लगता और इसकी लिखावट ऐसी स्पष्ट है कि बच्चा और बुड्ढा सभी बिना कठिनाई के इसे बाँच ले सकते हैं और अभ्यास करने से बहुत शीघ्र लिख भी सकते हैं। भारत में बहुत सी लिपियाँ ऐसी प्रचलित हैं जिनसे काम चलता है और वह बहुत तेज लिखी जाती हैं किन्तु परिणाम यह होता है लिखने में शीघ्रता करने से पढ़ने के समय अत्यन्त कठिनाई झेलनी पड़ती है। यहाँ तक कि लिपिहारा अपने भावों को प्रगट करना जो लिखने का उद्देश्य था वह भी निष्फल हो जाता है। इन दोषों से रहित होने के कारण ही भारत में देवनागरी के पक्षपाती बहुत हैं।

इन्हीं विचारों से उत्तेजित हो राजधानी कलकत्ते में कतिपय सुशिक्षित बुद्धिमानों ने "एक लिपि विस्तार परिषद्" नाम की एक सभा स्थापित की है जिसका उद्देश्य है भारत की भिन्न-भिन्न प्रान्तिक भाषाओं को यथासाध्य यत्नों द्वारा देवनागराक्षर में लिखने और

छापने का प्रचार बढ़ाना जिससे कुछ समय के अनन्तर भारतीय भाषाओं के लिए एक सामान्य लिपि प्रचलित हो जाय अर्थात् इसका अभीष्ट यही रहे कि बँगला, मराठी, सिन्धी, बलूची, पश्तूनी, बर्मी, गुजराती, तैलंगी, तमिल, कन्नड़, मलयालम, तुलू, पंजाबी, नैपाली, गुरमुखी, मारवाड़ी, सन्ताली, आसामी, उड़िया, हिन्दी आदि भाषाओं की पुस्तकों का प्रचार भारत के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त तक फैलाना जो पुस्तकें अपनी-अपनी प्रान्तिक लिपियों में लिखी रहने से प्रचलित नहीं हो सकतीं। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये परिषद् का यह पत्र "देवनागर" का आविर्भाव हुआ है।

इस पत्र का मुख्य उद्देश्य है भारत में एक लिपि का प्रचार बढ़ाना और वह एक लिपि देवनागराक्षर है। इससे किसी प्रान्तिक पाठक के चित्र में यह भ्रम न उत्पन्न हो कि उनकी प्रान्तिक लिपि विलुप्त हो जायगी या उनकी साहित्योन्नति में प्रतिबन्ध होगा क्योंकि सब प्रान्तों में प्रान्तिक लिपि के अतिरिक्त सुशिक्षित लोगों को रोमन तथा देवनागरी लिपियों का सीखना भी बहुधा आवश्यक है और भारतीय अन्य लिपियों की अपेक्षा देवनागराक्षर का प्रचार विदेश में भी अधिकतर है।

यह बात मुक्तकण्ठ से स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि इस समय प्रान्तिक लिपि और भाषा के साथ-साथ दूसरी लिपि और भाषा का ज्ञान भी मनुष्य जीवन का प्रधान अङ्ग बन गया है। प्रचलित दो लिपियों में--रोमन और देवनागर में--भारतवासियों का चित्त किस ओर झुकेगा यह दिखलाने की आवश्यकता नहीं है, जब अंग्रेज और मुसलमान आदि भी देवनागर की स्पष्टता और उपयोगिता को सराहते हैं। भारतीय लिपियों की जननी देवनागरी लिपि ही है जैसे भाषाओं की जननी संस्कृत। देवनागर का व्यवहार चलाने में किसी प्रान्त के निवासी का अपनी लिपि व भाषा के साथ स्नेह कम नहीं पड़ सकता। हाँ, यह अवश्य है कि अपने परिमित मण्डल को बढ़ाना होगा।

इस पत्र में साहित्य विषयक रोचक लेख तथा विज्ञान आदि विषय के भी उत्तम लेख प्रकाशित किये जायँगे। कालान्तर में उनका भाषान्तर भी कर दिया जायगा। प्रत्येक अङ्क में किसी न किसी प्रान्तिक भाषा के व्याकरण सम्बन्धी लेख अवश्य रहेंगे और कुछ शब्दकोश भी। जिनसे अन्य भाषाओं के समझने में सरलता हो और इस पत्र के पढ़ने में पाठकों का चित्त लगे। पहले इस पत्र के पढ़ने में पाठकों को बड़ी नीरसता जान पड़ेगी किन्तु इसकी दूरदर्शिता, उपयोगिता तथा आवश्यकता का विचार कर सहृदय पाठकगण अनन्त भविष्यत के गर्भ में पड़े हुये पचास वर्ष के अनन्तर उत्पन्न होनेवाले शुभ फल की आशा से इस क्षुद्र भेंट को अङ्गीकार करेंगे।

इस देश की वर्तमान दशा में जब मनुष्य अपनी ही मातृभाषा का यथाविध ज्ञान तथा व्यवहार नहीं रखता, बहुभाषी पत्र का निकालना दुष्कर जान पड़ता है। बहुभाषी पुरुष का मिलना तो दूर रहे उत्तरीय भारत की भाषा के साथ-साथ दक्षिणी भाषा का जानने-वाला भी मिलना कठिन है। प्रायः दो वर्ष से इसकी चेष्टा की गयी, अच्छे-अच्छे भारत हितैषियों के साथ पत्र-व्यवहार किया गया, कई समाचारपत्रों में विज्ञापन दिये गये और स्वयं मिलकर आजकल के शिक्षितों से सहायता माँगी गयी किन्तु सब प्रयत्न निष्फल हुए। निदान अपने ही पुरुषार्थ पर भरोसा कर अपने इस देवनागर को सर्वसाधारण के सन्मुख रखा है जिसके लिए कतिपय देश हितैषियों की आँखें उत्सुकता से लगी हुई थीं और जिन्होंने यथाशक्ति धन द्वारा सहायता भी की है।

इस बृहत् कार्य में साहित्यप्रेमी लेखकों को प्रान्तिक भाषा में लेख भेजकर सहायता देना उचित है। इन्हीं की सहायता पर इसकी उन्नति निर्धारित है। इस अङ्क को तो परिषद् ने टिड्डी की नाईं अपने वक्षस्थल पर अनन्त आकाश को उठाने का साहस करने के समान येन-केन प्रकारेण प्रकाशित कर दिया है। इसी से इसे क्षुद्र अंकुर कहा है जिसकी पूर्ण वृद्धि तथा फलागम की आशा जगदीश्वर तथा पाठकों के हाथ में है।

इन कारणों को विचार कर बुद्धिमान पाठक "बह्वारम्भे लघुक्रिया" की प्रसिद्ध लोकोक्ति को देवनागर के इस प्रथम अङ्क पर चरितार्थ नहीं करेंगे प्रत्युत तन-मन-धन से इसके अभावों को दूर कर पूर्णतया सुन्दर बनाने का प्रयत्न करेंगे ।

नागरी : एशिया की एकता एवं सम्पर्क लिपि के रूप में

डॉ० उदय नारायण तिवारी

भारत की राष्ट्रलिपि नागरी ब्राह्मी से प्रसूत है। ब्राह्मी भारत की प्राचीनतम लिपियों में है। यूरोपीय विद्वानों के अनुसार ब्राह्मी की उत्पत्ति दक्षिणी सेमेटिक लिपि से हुई है। अब यह तथ्य निस्सार एवं निराधार है। इस विचारधारा का सर्वप्रथम खंडन पं० गौरीचन्द हीराचन्द ओझा ने किया था। किन्तु, इधर सिन्धु घाटी की लिपि के आविर्भाव के बाद यह स्पष्ट हो गया है कि भारतीय बहुत पहले से लिखना जानते थे। यह तथ्यपूर्ण भी है, कारण कि जिस देश में पाणिनि ने अष्टाध्यायी जैसे व्याकरण के सर्वमान्य ग्रन्थ की रचना की, जहाँ कात्यायन एवं पतंजलि जैसे उद्भट वैयाकरण ईसा से कई शताब्दी पूर्व ही उत्पन्न हो चुके थे, वहाँ के आदि ऋषिगण लिखना नहीं जानते थे—यह अकल्पनीय है।

नागरी लिपि की प्राचीनता

नागरी लिपि का प्रादुर्भाव हर्षवर्द्धन के युग में हुआ था। स्वयं महाराजा के हस्ताक्षर—जो कि नागरी लिपि में हैं—बहुत ही आवर्जक एवं द्रष्टव्य है। इस लिपि के कुछ शिलालेखीय एवं अन्य तत्सम्बन्धी प्रमाण दक्षिण में भी मिले हैं। इनमें से दक्षिण में महावलीपुरम् एवं काञ्चीपुरम् के कैलास मन्दिर के शिलालेख हैं। ये शिलालेख पल्लव राजाओं के शासन-काल में प्रचलित नागरी लिपि में उत्कीर्ण हैं। दक्षिण भारत में ग्रंथ लिपि के साथ-साथ नागरी लिपि का प्रचार एवं प्रसार इस बात का द्योतक है कि देश के उत्तर एवं दक्षिण दोनों भागों में भावनात्मक एकता के रूप में नागरी लिपि एवं संस्कृत भाषा प्रचलित थी। दक्षिण भारत में पल्लव राजाओं की भाँति ही, पश्चिम में चालुक्य वंश के शासकों को भी हम नागरी लिपि का व्यवहार करते हुए पाते हैं। पुनः दक्षिण में ही 'वरगुन' पलियम

के ताम्रपत्र में नागरी का व्यवहार मिलता है। इस ताम्रपत्र के आरम्भ की लिपि तो तमिल है, किन्तु आगे इसमें नागरी लिपि प्रयुक्त हुई है। पल्लव वंश के बाद दक्षिण में चोल-वंश राज्य की स्थापना हुई। इसी वंश के राजाओं ने अपनी मुद्राओं (सिक्कों) पर नागरी लिपि का ही व्यवहार किया। इसी युग में केरल राज्य के शासकों ने भी अपने सिक्कों पर नागरी लिपि का व्यवहार किया। बाहर के श्रीलंका (सीलोन) में भी पराक्रमबाहु, विजयबाहु एवं अन्य राजाओं के सिक्कों पर भी नागरी लिपि का प्रयोग मिलता है। इससे स्पष्ट है कि नागरी का प्रयोग वृहत्तर भारत में था जिसके अन्तर्गत श्रीलंका भी आता है।

मध्य युग में संस्कृत का लेखन विविध लिपियों में होने लगा था। किन्तु जब मैक्समूलर ने वेदों का संस्करण निकालना आरम्भ किया तो उन्होंने नागरी के टाइप ढलवाये और प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसके बाद नागरी, संस्कृत लिखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय लिपि बन गयी। आज विदेशों के जितने भी संस्कृतज्ञ हैं, वे नागरी लिपि से परिचित हैं। इस प्रकार, संस्कृत लिखने के लिए विशेष रूप से नागरी का भी प्रयोग होने लगा है।

नागरी बनाम रोमन लिपि

पश्चिम के कई देशों ने संस्कृत-लेखन में रोमन लिपि को अपनाया है। आधुनिक भाषाओं को लिखने के लिए सबसे पहले तुर्की ने अपनी सेमेटिक लिपि को छोड़कर रोमन को अपनाया था और इसके बाद यह लिपि रूस के तुर्की भाषी राज्यों में व्यवहृत होने लगी थी। किन्तु, इधर सोवियत विद्वानों के परिश्रम के परिणामस्वरूप सोवियत राज्य के तुर्की भाषाभाषियों में रूसी लिपि प्रचलित हो गयी है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि रूसी लिपि, रोमन लिपि की अपेक्षा अधिक स्वनात्मक (ध्वन्यात्मक) है। पूर्वी यूरुप के कम्युनिस्ट विचारधारा वाले देशों में रूसी या उसके समकक्ष की स्वनात्मक (ध्वन्यात्मक) लिपियाँ ही प्रचलित हैं। आज का युग विज्ञान का युग है अतएव विशिष्ट स्वनात्मक (ध्वन्यात्मक) लिपि को छोड़कर

रोमन जैसी अवैज्ञानिक लिपि का व्यवहार किसी देश को ग्राह्य न होगा।

नागरी लिपि की विशेषता

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारत की सभी लिपियाँ—असमी, उड़िया, कश्मीरी, गुजराती, कन्नड़, मलयालम, गुरुमुखी, तमिल, तेलुगु, सिन्धी आदि भारतीय एवं सिंघली, बर्मी, थाई, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, तिब्बती आदि देशों की लिपियाँ नागरी की भाँति ब्राह्मी से प्रसूत हैं अतएव उनके लिखने का क्रम ठीक नागरी जैसा है। इस लिपि का स्वनिमिक व्यवस्थापन, उच्चारण-स्थान एवं उच्चारण-प्रयत्न को दृष्टि-पथ में रखकर हुआ है जिसके कारण यह अत्यन्त वैज्ञानिक लिपि बन चुकी है।

सर्वप्रथम, नागरी को स्वर एवं व्यंजनों में विभाजित किया गया है। इसमें सेमेटिक एवं रोमन लिपि की अपेक्षा आवश्यकतानुसार स्वरों की संख्या पर्याप्त है। स्वरों की कमी के कारण ही रोमन और सेमेटिक लिपियाँ नितान्त अवैज्ञानिक बन गयी हैं, जिसके परिणामस्वरूप इनके माध्यम से विविध भाषाओं को लिखना सम्भव नहीं है। नागरी लिपि की सबसे बड़ी विशिष्टता यह है कि इसके वर्णों का उच्चारण और उनके लेखन में अन्तर नहीं है। इसकी दूसरी विशिष्टता यह है कि इसके वर्ण उच्चारण-स्थान के अनुसार सजे हुए हैं, जैसे—कंठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ। उच्चारण-स्थान, मुख में निश्चित हैं जिनके अनुसार वर्णों का उच्चारण होता है।

विश्व की अन्य किसी लिपि में यह सुविधा नहीं है। यही कारण है कि इस लिपि को चार-पाँच वर्ष के बच्चे भी आसानी से सीख लेते हैं तथा विविध वर्णों को मिलाकर पढ़ने भी लगते हैं। लगभग छः—सात वर्ष के रूसी बालक भी अपनी लिपि से परिचित होकर इसी प्रकार से भाषा सीख लेते हैं क्योंकि नागरी और रूसी में ध्वन्यात्मकता के कारण वर्तनी (स्पेलिंग) को रटने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

नागरी की तरह ही ब्राह्मी से प्रसूत भारतवर्ष तथा वृहत्तर भारत की अन्य लिपियों की ठीक यही अवस्था है। वहाँ भी बालक अपनी लिपियों के सहारे भाषा सीखने में शीघ्र ही समर्थ हो जाते हैं।

एशिया में चीन, कोरिया, जापान आदि में चित्रलिपि प्रचलित है जिसके कारण बच्चे बहुत देर में भाषा सीख पाते हैं। यदि नागरी के द्वारा यहाँ के बच्चों को भाषा सिखाने का प्रयत्न किया जाय तो रोमन की अपेक्षा ये शीघ्र ही अपनी-अपनी भाषायें सीख सकेंगे। इधर चीन में चीनी भाषा सिखाने के लिए रोमन लिपि का किंचित् प्रयोग होने लगा है। स्वर्गीय राहुल सांकृत्यायन ने चीनी भाषा को रोमन के बजाय नागरी के द्वारा सिखाने के लिए एक वृहत् चार्ट तैयार किया था। वे उसे लेकर चाऊ–एन्–लाई से मिलने के लिए चीन भी गये थे किन्तु कतिपय कारणों से वह अपने लक्ष्य में सफल न हो सके। आज भाषाविज्ञान की जो उन्नति हुई है उसके परिणाम-स्वरूप चीनी, जापानी और कोरियाई भाषाओं को नागरी लिपि के द्वारा सफलता के साथ लिखा जा सकता है।

नागरी लिपि में सुधार

वास्तव में यदि किसी लिपि को लिखने में मुद्रण तथा टाईप की सुविधा न होगी तो लिपि वैज्ञानिक रूप से मान्य न हो सकेगी। नागरी लिपि को इस प्रकार की लिपि बनाने के लिए अनेक प्रयत्न हुए। इस प्रयत्न का समारम्भ आरम्भ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन एवं नागरी प्रचारिणी ने किया। इसके बाद सन् १९४७ ई० में नागरी में अपेक्षित सुधार के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में 'नागरी लिपि सुधार समिति' का निर्माण किया। उधर केन्द्रीय शासन की ओर से जो 'हिन्दुस्तानी शीघ्रलिपि तथा लेखन यंत्र समिति' सन् १९४८ ई० को नियुक्त हुई थी, उसके साथ भी इस समिति ने विचार-विमर्श किया। जो योजनायें इस समिति के पास विशेषज्ञों ने भेजी थीं उस पर भी समिति ने समुचित विचार किया तथा कुछ सज्जनों के साक्ष्य भी लिये। अन्त में इस

समिति ने सन् १९४९ ई० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में समिति ने अपने नकारात्मक तथा स्वीकारात्मक दोनों प्रकार के सुझावों को प्रस्तुत किया।

आचार्य नरेन्द्रदेव कमेटी की रिपोर्ट के बाद सन् १९५३ ई० में उत्तर प्रदेश ने नागरी लिपि में सुधार सम्बन्धी सुझावों पर विचार करने के लिए लखनऊ में विभिन्न राज्यों के मंत्रियों तथा कतिपय चुने हुए विद्वानों की एक सभा की। इस समिति ने भी नागरी लिपि के सुधार के सम्बन्ध में कतिपय सुझाव दिये। अन्ततोगत्वा इनमें से कुछ सुधार मान्य हुए और कुछ अस्वीकृत कर दिये गये। एक प्रकार से ऊपर के सम्मेलनों के प्रयास से देवनागरी की मानक लिपि तैयार हो गयी किन्तु इसके बाद समस्त भारत की एकता की दृष्टि से सामान्य लिपि के रूप में भी देवनागरी की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। सन् १९६१ ई० में राज्यों के मुख्य मंत्रियों एवं केन्द्रीय मंत्रियों का एक सम्मेलन दिल्ली में हुआ। सम्मेलन ने एक-मत होकर यह राय दी कि समस्त भारतीय भाषाओं के लिए एक सामान्य लिपि का होना वांछनीय ही नहीं आवश्यक भी है क्योंकि ऐसी लिपि भारतीय भाषाओं के बीच एक सेतु का काम करेगी और उससे भावात्मक एकता को बढ़ावा मिलेगा। वर्तमान परि-स्थिति को देखते हुए लोगों की राय में नागरी ही वह लिपि हो सकती थी।

देवनागरी में नवीन प्रतीकों का समावेश

देवनागरी लिपि को अखिल भारतीय लिपि का स्वरूप और क्षमता देने के उद्देश्य से उसमें हिन्दीतर भाषाओं की विशिष्ट ध्वनियों के लिए नवीन प्रतीकों का समावेश आवश्यक था। इसके लिए सन् १९६१ ई० में भारत सरकार ने एक 'भाषाविद् समिति' का संगठन किया। अन्ततोगत्वा इस समिति ने अपनी सिफारिशें सरकार के पास भेज दीं और सरकार ने उसे स्वीकार कर लिया।

मानक देवनागरी (जिसमें हिन्दीतर भाषाओं की विशिष्ट ध्वनियों का समावेश है) तथा समस्त भारतीय भाषाओं के लिए

सामान्य राष्ट्रलिपि, 'परिवर्द्धित देवनागरी' नाम की दो पुस्तिकायें नवम्बर, सन् १९६६ ई० में भारत सरकार ने प्रकाशित कीं तथा समस्त देश के चुने हुए विद्वानों की एक सभा दिल्ली में बुलाकर उसकी स्वीकृति प्राप्त की। दूसरी पुस्तिका में सरकार ने अपने निर्णयों की व्यावहारिकता दरशाने के लिए भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में उल्लिखित चौदह भाषाओं में लिखित अनुच्छेद ३५१ का देवनागरी लिप्यंतरण भी दिया है। इसमें चौदह भाषाओं की लिखने की विशिष्ट ध्वनियों को स्पष्ट किया गया है।

इसी प्रकार, एशिया की समस्त भाषाओं के लेखन के लिए विभिन्न देशों के विद्वानों को आमंत्रित कर तथा लिपि विशेषज्ञों से परामर्श लेकर ऐसी लिपि तैयार की जा सकती है जो एशिया की सभी भाषाओं को देवनागरी में शुद्ध रूप में लिख सके। यह काम उतना कठिन नहीं है जितना लोग उसे मान बैठे हैं। आज के वैज्ञानिक युग में मानक प्रतीकों का निर्माण कर एशिया की विभिन्न भाषाओं को लिखने के लिए नागरी को पूर्ण समर्थ बनाया जा सकता है।

देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता

प्रो० वासुदेव सिंह

नागपुर के विश्व हिन्दी सम्मेलन ने सारे संसार का ध्यान विश्व भाषा के रूप में हिन्दी की ओर आकृष्ट किया है। विश्व-भाषा के रूप में हिन्दी के महत्त्व को घटाने के लिए विदेश और देश के कुछ विद्वानों ने हिन्दी बोलने वालों की संख्या घटाकर प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी किया है। मारिओ पेई नामक विद्वान ने 'लैंग्वेज फार एवरी वाडी" नाम एक ग्रन्थ लिखा है जो १९५८ में न्यूयार्क से प्रकाशित हुआ था। इसमें लेखक ने संसार की प्रमुख भाषाएँ बोलनेवालों की संख्या का निर्देश किया है। इस लेखक के अनुसार चीनी बोलने वालों की संख्या ५० करोड़, अंग्रेजी बोलने वालों की संख्या २५ करोड़ और हिन्दुस्तानी अर्थात् हिन्दी बोलने वालों की संख्या १६ करोड़ है। मारिओ पेई को यह भ्रान्ति कैसे हुई उसका उत्तर इसी पुस्तक के पृष्ठ १५५ पर दिये गये भारत के भाषिक मानचित्र में मिलता है, जिसमें बिहारी को हिन्दी से पृथक् भाषा के रूप में दिखाया गया है। अंग्रेजों की भेद-नीति ने उनके भाषा-वैज्ञानिकों को मिथ्या भाषा-संबंधी सिद्धान्तों को गढ़ने की प्रेरणा दी। ग्रियर्सन ने बिहारी नाम की भाषा का बार-बार उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि बिहारी भाषा बंगला की सगी बहन है। खेद है कि उनका समर्थन अपने देश के कुछ प्रसिद्ध भाषाविदों और दुर्भाग्य से हिन्दी प्रदेश के कुछ भाषाविदों ने भी किया। उन्होंने सबसे बड़ी भूल यह की कि ग्रियर्सन के द्वारा किये गये पूर्वी हिन्दी और पश्चिमी हिन्दी के भ्रान्त भेद को स्वीकार कर लिया। दूसरे उन्होंने ग्रियर्सन के द्वारा प्रचारित सिद्धान्त के अनुसार पूर्वी हिन्दी से बिहारी को अलग कर दिया। मारिओ पेई जैसे लेखकों की कृतियों में हिन्दी बोलने वालों की संख्या को घटाकर प्रस्तुत करने की जो प्रवृत्ति मिलती है, वह अंग्रेज भाषाविदों द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त भेदवादी भाषा दर्शन का परिणाम है। संप्रति मैं इस संबंध में कुछ अधिक नहीं कहूँगा।

भारत की भाषा-समस्या के समाधान में आचार्य विनोवा भावे ने समय-समय पर जो तर्कपूर्ण विचार प्रकट किये हैं, वे वड़े प्रामाणिक, सुस्पष्ट और अकाट्य हैं। विश्व हिन्दी सम्मेलन को प्रेषित अपने संदेश में उन्होंने कहा है--"यू० एन० ओ० में स्पेनिश को स्थान है अगरचे स्पेनिश बोलनेवालों की संख्या १५-१६ करोड़ ही है। हिन्दी का यू० एन० ओ० में स्थान नहीं है यद्यपि उसके बोलनेवालों की संख्या लगभग २६ करोड़ है। इसका कारण है कि विहार के बोलने वालों ने अपनी भाषायें मैथिली, भोजपुरी लिखी हैं। राजस्थान के लोगों ने अपनी भाषा राजस्थानी वताई है। इन कारणों से हिन्दी बोलने वालों की संख्या १५ करोड़ रह गई। अगर हम सबकी गिनती करते तो हिन्दी बोलने वालों की संख्या कम-से-कम २२ करोड़ होती। इसके अलावा उर्दू भी एक प्रकार हिन्दी ही है जिसके बोलने वालों की संख्या करीब ४ करोड़ है। इंग्लिश बोलने वालों की संख्या ३० करोड़ है। चीनी भाषा ७० करोड़ लोग बोलते हैं, ऐसा यू०एन०ओ० में लिखा गया है। ७० करोड़ की वह भाषा मानी जाती हैं, यह उनकी (चीनी बोलने वालों की) कुशलता है। चीन में कम से कम ३०-४० भाषायें हैं परन्तु उन सबकी लिपि चित्रलिपि है। उसके तीन-साढ़े तीन हजार चित्र हैं। उन चित्रों के अनुसार वे अपनी-अपनी भाषा पढ़ लेते हैं। कोई भी समझ सकता है कि इतने लम्बे-चौड़े देश में एक भाषा हो ही नहीं सकती। इसका अर्थ यह हुआ कि दुनिया में बोलने वाले लोगों की संख्या की दृष्टि से नम्बर एक हैं इंग्लिश बोलने वाले और नम्बर दो हैं हिन्दी बोलने वाले। ध्यान देने की बात यह है कि आचार्य विनोबा भावे ने हिन्दी बोलनेवालों की जो संख्या बताई है, उसमें गियाना, फिजी, ट्रिनिडाड, मारीशस, सूरीनाम आदि के विदेशी हिन्दीभाषियों की संख्या समाविष्ट नहीं है। इनके मिल जाने से यह संख्या, संभव है, अंग्रेजी बोलने वालों की संख्या से अधिक हो जाय।

विश्व हिन्दी की प्रतिष्ठा के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा अपने ही देश के अंग्रेजी-प्रेमी लोग हैं। आचार्य विनोबा भावे ने कहा है कि अंग्रेजी के कारण भारतीय जनता दो वर्गों में बँट गई है, "एक है

अंग्रेजी शिक्षित वर्ग और दूसरा अशिक्षित वर्ग। इन दोनों वर्गों में जो वैषम्य है उसको भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही मिटाया जा सकता है।" अंग्रेजी के कारण देश में जो अत्यंत विचित्र विसंगतिपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई है, उसके संबंध में विनोबा जी का कहना है, "अपने देश का कारोबार किस तरह चलता है, वह अमेरिका और इंग्लैण्ड के लोग घर में बैठकर जान सकते हैं और हमारे देश का किसान उसे नहीं जानता है। अपने देश का कारोबार दूसरे के सामने रखना यह एक गलती है और अपने ही किसान से उसे छिपाना यह भारी गलती है। हमें आश्चर्य होता है कि ऐसी सादी बात कैसे समझ में नहीं आती है।" (साप्ताहिक हिन्दुस्तान २३.११.५८, पृष्ठ–१०)

अंग्रेजी भाषा के व्यामोह ने देश का कितना अहित किया है इस संबंध में स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति स्व० डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के ये विचार मननीय हैं; "मेरा न अंग्रेजी से कोई द्वेष है और न अंग्रेजी साहित्य के प्रति उदासीनता। मैने स्वयं अपने विद्यार्थी-जीवन में अंग्रेजी भाषा में सर्वोच्च उपाधि हासिल की थी, किन्तु अंग्रेजी भाषा और साहित्य में कितनी ही खूबी क्यों न हो इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि उसके अनिवार्य अध्यापन का और अपने साहित्य और संस्कृति की उपेक्षा का यह परिणाम हुआ कि हमारे यहाँ के विद्यार्थियों को विद्याध्ययन में रटने की बुरी आदत पड़ गयी ......। यह ठीक है कि भारत की ही भूमि पर और भारत के ही आकाश के नीचे इन विद्यालयों की दीवारें और इमारतें बनीं हुई थीं, किन्तु उनमें भारत न था। उनमें या तो इंग्लैण्ड था या यूरोप......। मैं समझता हूँ कि अँग्रेजों के व्यक्तित्व में इतनी विभक्ति न थी जितनी कि अंग्रेजी-शिक्षित भारतीयों में थी और इसलिए ये भारतीय अपनी इस विभक्तता के कारण पूर्णतया मानसिक अपाहिज बन गये थे। जहाँ विश्वविद्यालयों का यह काम होना चाहिए कि वे व्यक्तितत्व में सामंजस्य कायम करें, वहाँ हमारे विश्वविद्यालय उसके अंग्रेजी भाषा और साहित्य की कुल्हाड़ी से टुकड़े-टुकड़े करते रहे।...............उनका (अंग्रेजी के मानस-पुत्रों का) अपना घरेलू

रहन-सहन, दाम्पत्य जीवन, घर और बाजार की बातचीत और खत-किताबत की, लिखने-पढ़ने की भाषा, खाने-पीने का ढंग, वेश-भूषा सभी कुछ अंग्रेजी हो गयी है।" जिस अंग्रेजी के रहते राष्ट्र और समाज का इतना अहित हुआ है उसके रहते हिन्दी विश्व भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो सकेगी, इसमें सन्देह है। इसलिए मेरा निश्चित मत है कि भाषा के विषय में लापरवाही बरतने वालों के दिमाग में गड़बड़ी है। हमारी भाषाओं में कोई कमी नहीं है। इस गड़बड़ी को दूर तभी किया जा सकता है जब एक कलम से अंग्रेजी के टाइपराइटरों को अवैध घोषित करके इस देश का सारा शासन और विधि-कार्य हिन्दी में चलाया जाय।

विश्व हिन्दी का दूसरा पक्ष विश्व नागरी है। इस संबंध में भी आचार्य विनोबा भावे का चिन्तन बड़ा सुलझा हुआ, अत्यन्त स्पष्ट और परम प्रामाणिक है। उन्होंने कहा है, "विश्व के साथ-साथ 'विश्व नागरी' भी चले। उस काम में देर करने की आवश्यकता नहीं है। कुछ लोगों का विचार है कि उस दिशा में हमको धीरे-धीरे आगे बढ़ना होगा जिससे कुछ भय मालूम न हो। मैं ऐसा नहीं मानता। देवनागरी लिपि, भाषा की ही लिपि न मानी जाय। वह 'संस्कृत लिपि' है– ऐसा माना जाय। संस्कृत, मराठी, हिन्दी, पालि, मागधी, अर्धमागधी, नेपाली–इन सभी भाषाओं की लिपि देवनागरी है। जव संस्कृत विश्वभाषा बनने की योग्यता रखती है तो उसकी लिपि देवनागरी को 'विश्वनागरी' के रूप में फैलाने में किसी बाधा का भय क्यों होना चाहिए"। विश्व की तमाम भाषायें यदि देवनागरी अथवा विश्वनागरी लिपि में भी लिखी जाने लगें तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का स्वप्न शीघ्र साकार होगा। जब हम सब हिन्दी को 'विश्व हिन्दी' मानने की कल्पना करते हैं, तब देवनागरी लिपि को विश्वनागरी लिपि बनाने की बात सोचना उचित ही माना जायेगा। इस प्रसंग में जस्टिस शारदाचरण मित्र का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण किया जाना स्वाभाविक है। उन्होंने लिपि-विस्तार परिषद की स्थापना कर "देवनागर" नाम की पत्रिका निकाली थी जिसमें सभी भाषाओं का साहित्य देवनागरी लिपि में छापा जाता था। उनका यह प्रयत्न

था कि भारत की सभी भाषाएँ देवनागरी लिपि में लिखी जायँ। जस्टिस शारदाचरण मित्र के साथ-साथ जस्टिस श्री कृष्णस्वामी अय्यर का नाम भी स्मरणीय है। १९१० ई० में इलाहाबाद में लिपि परिषद का जो आयोजन हुआ था उसमें जस्टिस अय्यर ने अपने अध्यक्षीय भाषण में भारतीय भाषाओं के लिए एक लिपि की आवश्यकता का जोरदार समर्थन किया था।

देवनागरी लिपि के विरोध में अरबी लिपि और रोमन लिपि को खड़ा किया जाता रहा है। उर्दू अरबी लिपि में लिखी जाती है। इसलिए वह हिन्दी से भिन्न भाषा मानी गयी। इतना ही नहीं, इस लिपि-भेद के कारण इस्लाम धर्म के साथ उसका विशेष संबंध मान लिया गया। लिपि किसी भाषा का अभिन्न अंग नहीं है। तुर्की रोमन लिपि में लिखी जाती है, अरबी लिपि में नहीं। जो लोग अरबी लिपि और उर्दू का सम्बन्ध इस्लाम की रक्षा के लिए आवश्यक मानते हैं, उन्हें कुरान मजीद के हिन्दी अनुवाद की भूमिका में लिखे गये कट्टर मुसलमान विद्वान ख्वाजा हसन निजामी के इस कथन पर विचार करना चाहिए, "इसी तहकीकात के सिलसिले में मुझे यह भी मालूम हुआ था कि हिन्दुस्तान में एक करोड़ मुसलमान ऐसे हैं जो अरबी और फारसी हुरुफ नहीं पढ़ सकते अगरचे उनकी बोलचाल तो उर्दू है मगर लिखना-पढ़ना उनका हिन्दी हुरुफ में है।" यह बात ख्वाजा हसन निजामी ने १९२८ ई० में कही थी जिसका अर्थ यह है कि आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व कम से कम एक करोड़ मुसलमान देवनागरी लिपि का व्यवहार करते थे। वह मुसलमानों की लोकप्रिय लिपि थी। डॉ० राम बिलास शर्मा ने ठीक ही लिखा है "हिन्दी उर्दू को एक होना चाहिये……यह हमारे ऐतिहासिक विकास की माँग है।" यह एकता देवनागरी लिपि के माध्यम से ही संभव है। अरबी-फारसी लिपि के संबंध में सुप्रसिद्ध भाषाविद् डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी का अभिमत विचारणीय है, "इसमें सिवा मुसलमान की भावना के और कोई भी गुण नहीं है और वह भावना भी एक संकुचित तथा अशिक्षित एवं अज्ञानजन्य धार्मिक कट्टरतापूर्ण दृष्टिकोण पर आधारित है।………

फारसी-अरबी लिपि को भारत की एकमात्र तो क्या एक राष्ट्र-लिपि बनने का न तो अवसर ही प्राप्त हो सकता है और न इसके लिए उसका अधिकार ही है।" (भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी पृष्ठ-२३८)।

रही रोमन लिपि की बात। उसके सम्बन्ध में सम्प्रति इतना कहना ही पर्याप्त है—"सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै।" रोमन लिपि अपूर्ण, अव्यवस्थित और अवैज्ञानिक है। उसमें एक ध्वनि के लिए न एक सांकेतिक चिह्न है और न एक सांकेतिक चिह्न के लिए एक ध्वनि ही है। उदाहरणस्वरूप अकेले "अ" ध्वनि को ही लें। रोमन लिपि में उसे प्रकट करने के लिए ग्यारह-बारह सांकेतिक चिह्नों का प्रयोग करना पड़ता है। "श" वर्ण को व्यक्त करने के लिए रोमन में १४ चिह्न मिलते हैं। रोमन में स्वर और व्यंजनों में कोई पूर्वापर क्रम नहीं है। रोमन लिपि में कुल २६ वर्ण हैं। उनमें से १२ मूल स्वर हैं और १४ व्यंजन। किन्तु अंग्रेजी में कुल स्वरध्वनियों की संख्या २१ है। अतः स्वरध्वनियों को व्यक्त करने के लिए अंग्रेजी में अन्य ध्वनियों को मिलाकर काम चलाना पड़ता है। इस प्रकार के दोष देवनागरी लिपि में नहीं हैं। उसमें एक ध्वनि के लिए एक संकेत चिह्न और एक संकेत चिह्न के लिए एक ध्वनि है। देवनागरी लिपि में स्वर और व्यंजनों की क्रमबद्धता है। इसमें पहले असंयुक्त स्वर, फिर संयुक्त स्वर, फिर असंयुक्त व्यंजन और संयुक्त व्यंजन आते हैं। देवनागरी लिपि की वर्णमाला पूर्ण एवं सुसम्पन्न है। उसमें ५२ वर्ण हैं। इतने वर्ण विश्व की किसी भाषा में नहीं हैं। देवनागरी में उच्चारण और लेखन की एकरूपता है। अरबी, फारसी तथा रोमन लिपि में इसका नितान्त अभाव है। इनके अतिरिक्त देवनागरी लिपि में स्पष्टता, सरलता ध्वन्यात्मकता आदि ऐसे गुण हैं जिनके कारण वह सहज ही अन्तर्राष्ट्रीय लिपि बन सकती है; वस्तुतः देवनागरी लिपि में एक मात्र अन्तर्राष्ट्रीय लिपि बनने की क्षमता है। इसके लिए उसमें केवल कुछ नये ध्वनि-चिह्न जोड़ना आवश्यक हो सकता है जो कठिन काम नहीं है। दुराग्रह और पूर्वाग्रह मुक्त जगत देवनागरी लिपि का स्वागत करेगा।

मेरी दृढ़ धारणा बन चुकी है कि हिन्दी भाषा की शब्दावली व्यापक रूप से संस्कृतनिष्ठ होनी चाहिए, क्योंकि इसी कारण से उसको देश की अन्य भाषाओं द्वारा स्वीकृति एवं मान्यता मिल सकती है। हमारा संविधान भी मुख्यतः संस्कृत से शब्दावली लेने का निर्देश करता है। संस्कृतनिष्ठ भाषा से शब्दावली की अपार अभिवृद्धि हो सकती है और विपुल शब्दावली पाणिनि के व्याकरण के आधार पर बनायी जा सकती हैं। ऐसी शब्दावली को अपनाने से देश की अन्य भाषाओं को आपत्ति नहीं हो सकती है। बहुत कम लोग जानते हैं कि दक्षिण की चार भाषाओं में से तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम में ६५ से ७० प्रतिशत शब्द संस्कृत के तत्सम शब्द हैं जो संस्कृत की शब्दावली पर आधारित हैं। अतएव भारत की एकता और भाषा की एकरूपता के लिए संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का अपनाना नितान्त आवश्यक है। अंग्रेजी भाषा में सब मिलाकर आजकल २० लाख शब्द हैं। विज्ञान के शब्द प्रायः ग्रीक भाषा पर आधारित हैं और कानून, प्रशासन इत्यादि की भाषा लैटिन-प्रधान है। ग्रीक और लैटिन में सब मिलाकर केवल ६०० आदि धातुएँ हैं, जिनसे अंग्रेजी भाषा के प्रायः सभी शब्दों का उद्गम हुआ है। आधुनिक संस्कृत में लगभग १५०० धातुएँ हैं, जिनका पूरा विवरण "सिद्धान्तकौमुदी" के तिङन्त नामक अध्याय में दिया गया है। इनके ऊपर वैदिक संस्कृत में लगभग सात सौ और धातुएँ हैं, जिनका प्रयोग आधुनिक संस्कृत में आजकल नहीं होता है। इसका आशय यह है कि संस्कृत वाङ्मय में लगभग २२०० आदि धातुएँ हैं। इन धातुओं के आधार पर इतने शब्द बनाये जा सकते हैं जिनसे मानव की किसी भी विचारधारा को न्यूनतम शब्दों में ठीक-ठीक प्रकट किया जा सकता है। इन नये शब्दों को कैसे बनायें, इसमें मतभेद की आवश्यकता नहीं है। स्वयं पाणिनि के बताये हुए नियमों पर चलकर करोड़ों नये शब्द बनाये जा सकते हैं, जिनको अखिल भारतीय मान्यता मिलने में किसी तरह की कठिनाई नहीं होगी।

प्राचीन भारत में केवल एक लिपि थी, सिवाय उत्तर-पश्चिम के, जिसे पहले गांधार कहा जाता था और अब वह अफगानिस्तान है। वहाँ

निश्चय ही खरोष्ठी लिपि प्रचलित थी, लेकिन वैदिक समाज खरोष्ठी लिपि को आदर की दृष्टि से नहीं देखता था और प्रायः ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करता था। भारत की तमाम भाषाएँ ब्राह्मी से निकली हुई किसी एक लिपि में लिखी जा सकती हैं। देवनागरी लिपि वैज्ञानिक है ही। कोई विदेशी लिपि, जैसे कि रोमन, हमारी भाषाओं को लिखने के लिए उपयुक्त नहीं, क्योंकि इस लिपि में संयुक्ताक्षर शब्दों का प्रयोग नहीं होता और मात्राओं की बेहद कमी है। उच्चारण की कठनाई है ही। अगर हिन्दी भाषा तीसरी या चौथी श्रेणी से बालकों को पढ़ाई जाय तो महाविद्यालय की अंतिम कक्षाओं तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी में उनकी इतनी गति और योग्यता हो जायेगी कि हिन्दी भाषा-भाषी और अहिन्दी भाषा-भाषी का अन्तर मिट जायेगा। इससे प्रतियोगिता-मूलक परीक्षाओं में हिन्दी भाषा-भाषी प्रत्याशियों को अहिन्दी भाषा-भाषियों के ऊपर कोई विशेष लाभ नहीं मिल सकेगा। भारत की एकता के लिए आवश्यक है कि हिन्दी भाषा, जिसके बोलने वाले ५० प्रतिशत से अधिक हैं, अहिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रों में तीसरी कक्षा से अनिवार्य रूप में पढ़ाई जाय। न्यायालयों और धारासभाओं में हिन्दी अथवा प्रादेशिक भाषाओं के अनिवार्य प्रयोग का श्रीगणेश किया जाना आवश्यक है।

भारतवर्ष की सब भाषाओं के लिये एक लिपि

[नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा आयोजित १९०५ में देवनागरी सम्मेलन का पूर्ण विवरण]

शुक्रवार ता० २९ दिसम्बर १९०५ को सवेरे ८ बजे नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से भारतवर्ष की सब भाषाओं के लिए एक लिपि के विषय में प्रमाणित सम्मति एकत्रित करने के लिए सभा भवन के पश्चिम की ओर एक शामियाने में एक साधारण सभा हुई थी जिसमें देश के हजारों बुद्धिमान, विद्वान और धनाढ्य लोग एकत्रित थे।

इस सभा के सभापति, बड़ौदा के मिस्टर रमेशचन्द्र दत्त आई० सी० एस०, सी० आई० ई० का स्वागत बड़े हर्षपूर्वक देर तक तालि-ध्वनि द्वारा किया गया। उन्होंने निम्नलिखित वक्तृता के साथ इस सभा का कार्य आरम्भ किया—

"सज्जनों, आज का कार्य आरम्भ करने के पहले मुझे आप लोगों को १/४ घंटे तक ठहराये रखने के लिए क्षमा माँगनी है। परन्तु आज प्रातःकाल मुझे कांग्रेस का बहुत ही आवश्यक कार्य था और इस सभा में मुझे देर हो जाने का यही कारण है।

"इस सभा का उद्देश्य सारे उत्तरीय भारतवर्ष में तथा पश्चिमी भारतवर्ष के उन भागों में जहाँ कि संस्कृत भाषा का प्रचार है एक लिपि के प्रचार करने का है। यह विचार केवल यहाँ ही नहीं हुआ वरन् यह बहुत समय से बंगाल तथा पश्चिमी भारत के बहुत से भागों में रहा है।

"मुझे स्मरण है कि बहुत वर्ष हुए कि बंगाल में सारे भारतवर्ष के लिए एक लिपि अर्थात् रोमन लिपि करने का कुछ लोगों का विचार हुआ था। निस्सन्देह यह विचार बहुत ही हास्यजनक था और वह सफल नहीं हो सका।

"तव सज्जनों ! यहाँ आप लोगों ने देवनागरी लिपि को उत्तरीय भारतवर्ष के सब संस्कृत बोलने वाले लोगों की एक मात्र लिपि करने का विचार किया। और आप की सभा की जो रिपोर्ट प्रति-वर्ष छपी है और जिन्हें आप के मंत्री ने कृपाकर मुझे दिया है उनके देखने से विदित होता है कि गत बारह वर्षों में बहुत उत्तम कार्य हुआ है। आप लोगों ने वास्तव में वहुत कुछ काम किया है और मैं सच्चे हृदय से विश्वास करता हूँ कि आप लोगों के उद्देश्य की पूर्ति होने तक आप लोग निरन्तर ऐसा ही उद्योग करते रहेंगे।

"सज्जनों ! किसी जाति के लिए एक नई लिपि का व्यवहार करना पहले पहल निस्सन्देह बहुत कठिन जान पड़ता है। बंगालियों के लिए नागरी अक्षरों में लिखना ऐसा कठिन जान पड़ता है कि वे लोग समझते हैं कि इसका अभ्यास उनको हो ही नहीं सकता। गुजरात, बड़ौदा तथा अन्य स्थानों में भी नागरी अक्षरों का प्रचार बहुत धीरे-धीरे हो रहा है। परन्तु सज्जनों, मैं आप लोगों को स्वयं अपने अनुभव से कहता हूँ कि यदि आप एक वार इन अक्षरों को लिखने का दृढ़ संकल्प कर लें तो इनका अभ्यास कुछ भी कठिन नहीं है। बहुत वर्ष हुए जव मैं पहले पहल इंग्लैंड में इण्डियन सिविल सर्विस के लिए गया था तो मैं नागरी का एक अक्षर भी नहीं लिख सकता था और जो थोड़ी बहुत संस्कृत मैं जानता था उसे बंगला अक्षरों ही में लिखता था। पर इस परीक्षा में बंगला अक्षर नहीं स्वीकार किये जाते थे और मैंने परीक्षा के विषयों में संस्कृत भी ली थी। इस कारण मुझे नागरी अक्षर भी सीखने पड़े और तीन ही मास के भीतर मैं नागरी उतनी ही जल्दी लिखने लगा जितनी जल्दी कि मैं बंगला अक्षर लिखता था।

"आजकल गुजरात में विशेषतः मैं उस राज का उल्लेख करता हूँ जिसकी सेवा करने का मुझे सम्मान प्राप्त है, वड़ौदा में वर्षों से इस विषय पर बहुत कुछ ध्यान दिया गया है— और बड़ौदा के लोगों ने नागरी अक्षरों के प्रचार के लिए पूर्ण उद्योग किया है। आप लोगों को विदित होगा कि हमारे बड़ौदा राज्य की ओर से एक गज़ट निकलता है जिसे हम लोग 'आज्ञा पत्रिका' कहते हैं और महाराजा

की ओर से जो आज्ञाएँ नियम आदि निकलते हैं वे सब इस पत्रिका में प्रति सप्ताह प्रकाशित होते हैं। इस 'आज्ञा पत्रिका' के एक भाग में बड़ौदा के लिए जो कानून बनते हैं वे सब छपते हैं और महाराज की आज्ञा से ये सब कानून गुजराती भाषा में परन्तु देवनागरी अक्षरों में छापे जाते हैं। यदि आप इस 'आज्ञा पत्रिका' की प्रति सप्ताह की प्रतियां देखें तो आपको विदित होगा कि इसका पहला भाग जिसमें साधारण आज्ञाएँ रहती हैं गुजराती अक्षरों में छपता है और अन्तिम भाग जिसमें कानून छपते हैं नागरी अक्षरों में रहता है। बड़ौदा में कोई ऐसा कर्मचारी नहीं है जो देवनागरी अक्षरों को उतनी ही सुगमता से न लिख-पढ़ सकता हो जितना कि गुजराती अक्षरों को। इन बातों से यह विदित होगा कि यदि हम किसी भाषा को जानते हों और यदि हम उस भाषा को किसी भिन्न अक्षर में लिखने का संकल्प कर लें तो यह बहुत कठिन नहीं है।

"५० वर्ष पहले जर्मनी में प्रायः सब पुस्तकें पुराने जर्मन अक्षरों में छपती थीं परन्तु अब जर्मन लोग यूरोप के अन्य देश के लोगों से संसर्ग चाहते हैं और इस कारण लगभग पचीस वर्षों से वे लोग अपनी सब पुस्तकें साधारण रोमन अक्षरों में छापने लगे हैं। इससे उन लोगों की कोई कठिनाई नहीं बढ़ गयी हैं। अतः उन लोगों ने जैसा जर्मनी में किया है वैसा ही हमें भारतवर्ष में करना चाहिए और सज्जनों, यह स्मरण रखिये कि यह उद्योग उस बड़े उद्योग का केवल एक अंशमात्र है कि जिसके द्वारा हम भारतवासी परस्पर अपना सम्बन्ध बढ़ाना चाहते हैं। इस उद्योग का सामाजिक और साहित्य सम्बन्ध होने के साथ ही साथ राजनैतिक रूप भी है।

'यह सभा इस विषय में भरसक उद्योग करके हम लोगों का परस्पर सम्बन्ध बढ़ाना चाहती है और मैं आशा करता हूँ कि समय पाकर इस उद्देश्य में सफलता होगी। सम्भव है कि हम लोग उस समय तक जीवित न रहें परन्तु यदि यह उद्योग जारी रहा तो एक समय ऐसा अवश्य आवेगा जब कि सारे उत्तरी भारतवर्ष में एक ही लिपि हो जायगी। इसमें शीघ्रता करने का एक मार्ग यह है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं के जो बहुत ही प्रचलित ग्रंथ हैं वे नागरी अक्षरों

में छापे जायँ। इससे सम्भवतः कुछ समय तक तो इन पुस्तकों की बिक्री में कमी हो जायगी और उन्हें वे ही लोग खरीदेंगे जो कि नागरी अक्षर पढ़ सकते हैं परन्तु यदि बंकिमचन्द्र के ग्रंथों के समान पुस्तकें नागरी अक्षरों में छापी जायँ तो समस्त बंगला पढ़नेवाले लोगों को शीघ्र ही इन अक्षरों का अभ्यास हो जायगा।

"इन्हीं थोड़ी-सी बातों को कहकर अब मैं पं० बाल गंगाधर तिलक से प्रार्थना करता हूँ कि वे आप लोगों के सम्मुख वक्तृता दें।"

लोकमान्य तिलक का भाषण

पण्डित बाल गंगाधर तिलक, बी० ए०, एल-एल०, बी० (पूना) ने, जिनका स्वागत तालिध्वनि द्वारा किया गया, कहा :

"सज्जनों, सभापति महाशय ने आप लोगों को नागरी प्रचारिणी सभा का उद्देश्य समझा दिया है। मैं भी प्रसन्नतापूर्वक उसी विषय को कहता परन्तु केवल १-१/२ घंटे के भीतर मेरे उपरान्त अभी १० महाशयों को वक्तृता देनी है। अतः मैं उस प्रसन्नता से वंचित हूँ, और जो थोड़ा-सा समय मुझे प्राप्त है उसमें संक्षेप में मैं केवल उन्हीं बातों को कहूँगा जो कि मेरी सम्मति में सभा के कार्य करने में ध्यान रखने योग्य हैं।

"सबसे आवश्यक बात जिसे कि हमें स्मरण रखना चाहिए वह यह है कि यह प्रयत्न उत्तरी भारतवर्ष में केवल एक लिपि करने ही के लिये नहीं है, वरन् वह समस्त भारतवर्ष में एक भाषा करने के बृहद् उद्योग का केवल एक अंश है जो कि राष्ट्रीय प्रयत्न कहा जा सकता है क्योंकि एक भाषा का होना राष्ट्रीयता का एक मुख्य अंग है। केवल एक भाषा ही से आप लोग अपने विचारों को दूसरे पर प्रकट कर सकते हैं और मनु ने ठीक ही कहा है कि सब बातें वाक या भाषा ही के द्वारा समझी और की जाती हैं। इस कारण यदि आप लोग किसी राष्ट्र को निकट लाकर मिलाना चाहें तो उन्हें एक में रखने के लिये उन सब की एक भाषा होने से बढ़कर और कोई शक्ति नहीं है। और यही उद्देश्य सभा ने अपने सम्मुख रक्खा है।

"परन्तु इस उद्देश्य में सफलता कैसे हो? हमारा उद्देश्य केवल उत्तरी भारतवर्ष के लिये नहीं वरन् मैं तो कहूँगा कि समय पाकर दक्षिणी भारतवर्ष और मद्रास को लेकर सारे भारतवर्ष के लिये एक भाषा करने का है। और जब हमारे उद्देश्य का विस्तार इतना बढ़ गया है तो हमारी कठिनाइयाँ भी अधिक जान पड़ती हैं। पहले पहल हमें उन कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा जो कि ऐतिहासिक कठिनाइयाँ कही जा सकती हैं। प्राचीन समय में आर्यों और अनार्यों और इधर के समय में हिन्दू और मुसलमानों की लड़ाइयों ने इस देश में हिन्दुओं की भाषा की एकता को नष्ट कर दिया है। उत्तरी भारतवर्ष के हिन्दू लोग जो भाषाएँ बोलते हैं वे प्रायः आर्य भाषाएँ हैं और उनकी उत्पत्ति संस्कृत से हुई है और दक्षिण में जो भाषाएँ बोली जाती हैं उनकी उत्पत्ति द्रविड़ भाषा से हुई है। इन भाषाओं में भेद केवल उनके शब्दों में ही नहीं वरन् उनके लिखने की लिपि में भी है। फिर हिन्दी और उर्दू का भी भेद है जिस पर कि इस प्रांत में इतनी प्रमुखता दी जाती है। हमारे प्रदेश में लिखने के मोड़ी अक्षर भी हैं और वे उस बालबोध अर्थात् देवनागरी अक्षरों से भिन्न हैं जिनमें कि मराठी पुस्तकें साधारणतः छपती हैं।

"अतः फारसी अक्षरों के उपयोग करने वालों और मुसलमानों के पास जाने के पहले जो दो बड़े महत्वपूर्ण तत्व हैं उन्हें हमें एक भाषा और लिपि के अंतर्गत लाकर एक करना और उनमें सामंजस्य स्थापित करना है। हम कह चुके हैं कि यद्यपि भारतवर्ष में एक भाषा का करना हमारा अन्तिम उद्देश्य है परन्तु उसके लिए हमें आरम्भ सब हिन्दुओं के लिए एक लिपि करके करना है। इसके लिये हमें उपरोक्त दोनों तत्वों को अर्थात् आर्य वा देवनागरी अक्षरों और द्रविड़ या तमिल अक्षरों को एक करना चाहिए। ध्यान रहे कि इसमें केवल अक्षरों का ही भेद नहीं है क्योंकि द्रविड़ भाषा में कुछ ऐसे उच्चारण भी हैं जो कि किसी आर्य भाषा में नहीं हैं।

"हम लोगों ने क्रमशः यह कार्य करने का निश्चय किया है और हम पहले पहल केवल आर्य भाषाओं या संस्कृत से निकली हुई भाषाओं को ही लेंगे जैसा कि सभापति महाशय आप लोगों से कह

चुके हैं। ये भाषाएँ हिन्दी, बंगाली, गुजराती, मराठी और पंजाबी हैं। इनकी और भी शाखायें हैं परन्तु मैंने केवल मुख्य-मुख्य भाषाओं के नाम लिये हैं। यह सब संस्कृत से उत्पन्न हुई हैं और वे जिन लिपियों में लिखी जाती हैं वे भी भारतवर्ष की प्राचीन लिपियों के रूपान्तर हैं। समय पाकर इन भाषाओं के व्याकरण, लिपि और उच्चारण जुदे-जुदे हो गये परन्तु उनकी वर्णमाला अब तक भी प्रायः एक-सी है।

"नागरी प्रचारिणी सभा का उद्देश्य यह है कि सब आर्य भाषाएँ एक ही लिपि में लिखी जायँ जिससे जब कोई पुस्तक उस लिपि में छपे तो उसे सब आर्य भाषाओं के बोलनेवाले लोग अधिक सुगमता से पढ़ सकें। मैं समझता हूँ कि इस प्रस्ताव से सब ही लोग सहमत होंगे और इसके लाभ को स्वीकार करेंगे, परन्तु कठिनता तब उत्पन्न होती है जबकि इन सब भाषाओं के उपयोग के लिये सबसे उपयुक्त समझकर कोई लिपि प्रस्तावित की जाती है। उदाहरण के लिए बंगाली लोग यह कह सकते हैं कि जिस लिपि में वे अपनी भाषा लिखते हैं वह गुजराती और मराठी लिपि से अधिक प्राचीन है और इसलिये सब भाषाओं के लिये बंगाली लिपि को ही चुनना चाहिए। फिर कुछ लोगों का ऐसा विचार है कि देवनागरी जैसी कि वह आजकल की छपी हुई पुस्तकों में देखी जाती है वही सबसे प्राचीन लिपि है और इस कारण सब आर्य भाषाओं के लिये उसी को चुनना चाहिए।

"परन्तु मेरी सम्मति में यह विषय ऐसा नहीं है कि जिसे हम केवल ऐतिहासिक आधारों पर निश्चय कर सकें। यदि आप लोग प्रचीन शिलालेखों को देखें तो आपको विदित होगा कि अशोक के समय से लेकर भिन्न-भिन्न समयों में जिन लिपियों का प्रचार था उनकी संख्या दस से कम नहीं है और उनमें खरोष्ठी या ब्राह्मी अक्षर सबसे प्राचीन समझे जाते हैं। तब से सब अक्षरों में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ है और हमारी आजकल की लिपियां उन्हीं प्राचीन लिपियों में से किसी न किसी का रूपान्तर हैं। अतः मेरी

सम्मति में एक लिपि के विषय को केवल प्राचीनता के सिद्धान्त पर निश्चित करना ठीक नहीं है।

"इन सब कठिनाइयों से बचने के लिये एक समय यह प्रस्ताव किया गया था कि हम लोग रोमन लिपि का व्यवहार करें और इसका एक कारण यह दिखलाया गया था कि ऐसा करने से एशिया और यूरोप दोनों की एक लिपि हो जायगी।

"महाशयो, यह प्रस्ताव मुझे बड़ा ही हास्यजनक जान पड़ता है। रोमन वर्णमाला और रोमन लिपि में बहुत-सी त्रुटियां हैं और वह हम लोगों की भाषा के उच्चारण प्रकट करने के लिये बड़ी ही अनुपयुक्त है। अंग्रेजी भाषा के वैयाकरण भी उसे त्रुटिपूर्ण बतलाते हैं। उसमें कहीं तो एक ही अक्षर के तीन-तीन या चार-चार उच्चारण हैं और कहीं एक ही उच्चारण को प्रकट करने के लिए दो या तीन अक्षरों का व्यवहार करना पड़ता है। इसके सिवाय इस कठिनाई को देखिये कि रोमन लिपि में हमारी भाषाओं के उच्चारण विना भिन्न-भिन्न चिह्नों के नहीं प्रकट किये जा सकते। इन सब वातों पर विचार करने से लोगों की समझ में आ जायगा कि यह प्रस्ताव कितना उपहासजनक है।

"अतः यदि हम सब के लिए किसी एक लिपि की आवश्यकता है तो वह रोमन लिपि से अधिक पूर्ण होनी चाहिए। संस्कृत जाननेवाले यूरोप के विद्वानों ने भी कहा है कि देवनागरी यूरोप की सब लिपियों की अपेक्षा बहुत पूर्ण है। और जब हम लोगों के सामने उनकी यह स्पष्ट सम्मति मौजूद है तब भारतवर्ष की सब आर्य भाषाओं की लिपि के लिए किसी दूसरी वर्णमाला को स्वीकार करना सांस्कृतिक आत्मघातक होगा। केवल इतना ही नहीं वरन् मेरी सम्मति में तो भारतवर्ष में उच्चारण और अक्षरों के वर्गीकरण में जितना परिश्रम किया गया है, और जिसने पाणिनि के ग्रन्थों में पूर्णता प्राप्त की है, वह संसार की किसी अन्य भाषा में नहीं पाया जाता है। हम जो भिन्न-भिन्न उच्चारण करते हैं उनकी अभिव्यक्ति के लिए देवनागरी वर्णमाला का सबसे अधिक उपयुक्त होने का यह विशेष कारण है। 'सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट' नाम की ग्रन्थावली की प्रत्येक पुस्तक के अन्त में जो भिन्न-भिन्न लिपियां दी हैं उनका यदि आप आपस में

मिलान करें तो आप लोगों को मेरे इस कथन पर विश्वास हो जायगा। हमारे यहाँ एक उच्चारण के लिए केवल एक ही अक्षर और प्रत्येक अक्षर के लिए केवल एक ही उच्चारण है। अतः इस विषय में मैं समझता हूँ कि कोई मतभेद नहीं हो सकता कि हम लोगों को कौन-सी लिपि काम में लानी चाहिए। देवनागरी ही सभी दृष्टियों से वह लिपि है। अब प्रश्न यह है कि इस लिपि ने भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जो भिन्न-भिन्न रूप धारण किये हैं उनमें से कौन-सा रूप लिया जाय और मैं कह चुका हूँ कि इस बात का निर्णय केवल प्राचीनता के सिद्धान्त पर नहीं किया जा सकता।

"भारत के लिए लार्ड कर्ज़न द्वारा निर्धारित एक ही समान समय से पहले प्रत्येक नगर अपने यहाँ सूर्य की गति के अनुसार समय मानता था। कलकत्ते में अब भी स्थानीय समय चलता है। इस प्रकार सारे भारत में प्रत्येक नगर अपना स्थानीय समय चलाता था। इसमें बड़ी व्यावहारिक कठिनाइयाँ थीं। लार्ड कर्जन ने भारत के लिए मद्रास का समय निर्धारित किया जो सब जगहों के समय का मध्यमान था। समय की नाईं हमें एक निर्धारित लिपि की भी आवश्यकता है। लार्ड कर्जन ने यदि निर्धारित समय की अपेक्षा राष्ट्रीय सिद्धान्तों पर हमारे लिए निर्धारित लिपि देने का उद्योग किया होता तो वे हमारे सम्मान के अधिक पात्र होते। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। अतः हमें सब प्रान्तीय पक्षपात छोड़कर इस काम को स्वयं करना चाहिए। बंगाली लोग स्वभावतः अपनी लिपि का अभिमान करते हैं। इसके लिये मैं उन्हें दोष नहीं देता। फिर गुजरातवाले कहते हैं कि उनकी लिपि लिखने में सबसे सुगम है क्योंकि उसमें अक्षरों के ऊपर शिरोरेखा आड़ी लकीर नहीं लिखनी पड़ती। और मरहठे लोग कह सकते हैं कि मराठी अक्षरों में ही संस्कृत लिखी जाती है, और इस कारण समस्त भारतवर्ष की एक लिपि बनाने के लिए वही उपयुक्त है। मैं इन सब बातों को पूर्णतया समझता हूँ, परन्तु इस विषय का निर्णय करना हम लोगों के लिए आवश्यक है और उसके लिए व्यावहारिक अंश पर विचार करना चाहिए। हम चाहें जिस लिपि को काम में लावें, परन्तु वह लिखने में सुगम, देखने में सुन्दर और ऐसी होनी चाहिए जो शीघ्रता से

लिखी जा सके। फिर उसके अक्षर ऐसे होने चाहिए कि वे भिन्न-भिन्न आर्य भाषाओं के सब उच्चारणों को प्रकट कर सकें। केवल इतना ही नहीं, वरन् उन्हें ऐसा बनाना चाहिए कि जिससे वे द्रविड़ भाषाओं के उच्चारणों को भी चिह्नों को लगाये बिना व्यक्त कर सकें। प्रत्येक उच्चारण के लिए केवल एक ही अक्षर और प्रत्येक अक्षर का केवल एक उच्चारण होना चाहिए। पूर्णलिपि से मेरा यही अभिप्राय है। और यदि हम सब मिलकर विचार करें तो आजकल की प्रचलित लिपियों के आधार पर एक ऐसी लिपि का निकालना कोई कठिन बात नहीं है। ऐसी लिपि को निश्चय करने में हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आजकल सबसे अधिक प्रचार किस लिपि का है, क्योंकि एक लिपि बनाये जाने के लिए ऐसी ही लिपि का अधिक स्वत्व है, यदि वह अन्य सब बातों में ठीक हो।

"इस कार्य के लिए जब आप लोग कमेटियाँ नियत करें और किसी एक लिपि को निश्चित करें तो मैं समझता हूँ कि हम लोगों को सरकार के पास जाना होगा और उसे प्रत्येक प्रान्त की पाठ्य-पुस्तकों के कुछ पाठ इसी लिपि में छपवाने की आवश्यकता दिखलानी पड़ेगी, जिससे आगे की पीढ़ी के लोग बाल्यावस्था से ही उससे परिचित हो जायँ। किसी नयी लिपि का पढ़ना कठिन काम नहीं है, परन्तु पढ़ाई समाप्त हो जाने के उपरान्त किसी नयी लिपि के पढ़ने में एक प्रकार की अरुचि होती है। यह अरुचि मेरी बतलायी हुई रीति से दूर हो सकती है और इसमें सरकार हमारी सहायता कर सकती है। यह कोई राजनैतिक प्रश्न नहीं है, यद्यपि यों तो अन्त में सभी बातें राजनैतिक कही जा सकती हैं। जिस गवर्नमेण्ट ने हमारे लिए निर्धारित समय और निर्धारित तौल और नाप निश्चित किया है वह हम लोगों की सब आर्य भाषाओं के लिए एक लिपि निश्चित करने में सहायता देने से मुँह न मोड़ेगी।

"जब एक लिपि स्थापित हो जायगी तो किसी एक आर्य भाषा में छपी हुई पुस्तकों का पढ़ना उन लोगों के लिए कठिन नहीं होगा जो कि उसी आर्यवंश की दूसरी भाषा बोलते हैं। मुझे स्वयं बँगला पुस्तकों के समझने में यही कठिनाई है कि मैं बँगला अक्षरों को नहीं

पढ़ सकता । यदि बंगला पुस्तक देवनागरी अक्षर में छपी हो तो मैं उसे यदि पूरी तरह से नहीं तो उसका बहुत-सा अंश समझ सकता हूँ जिससे कि पुस्तक का सारांश समझ में आ जायगा, क्योंकि उनमें से आधे से अधिक शब्द तो संस्कृत के ही होते हैं । हम लोग द्रुतगति से यूरोप के नये-नये विचार आत्मसात कर रहे हैं और उनके लिए हम लोग संस्कृत की सहायता से नये-नये शब्द गढ़ रहे हैं । इस कारण भी हमें सारे भारतवर्ष के लिये एक भाषा तैयार करने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है । मुझे यह देखकर बड़ा हर्ष हुआ कि यह सभा 'हिन्दी वैज्ञानिक कोश' बनाकर इस विषय में बहुत कुछ काम कर रही है । मैं इस विषय में भी आप लोगों से कुछ निवेदन करता, परन्तु मेरे उपरान्त अन्य महाशयों का भी व्याख्यान होना है । इस कारण मैं समझता हूँ कि आप लोगों की आज्ञा से मुझे अब बैठ जाना चाहिए ।"

प्रो० रानाडे

प्रोफेसर एन० बी० रानाडे (बम्बई) नें, जिनका स्वागत तालिध्वनि द्वारा किया गया, कहा—

"सभापति महाशय तथा सभ्यगण, सभा के मंत्री के कथनानुसार आज मैं प्रोग्राम के दूसरे विषय पर, अर्थात् सभा ने इस देश की संस्कृत से उत्पन्न हुई सब भाषाओं के हित के लिए जो भाषा वैज्ञानिक कोश तैयार किया है उसके विषय में, आप लोगों से निवेदन करूँगा । भारतवर्ष की जातीय भाषा सभा (जिस नाम से आज का अधिवेशन पुकारा जा सकता है) के इस अधिवेशन में हम लोगों को नागरी प्रचारिणी सभा ने गत बारह वर्षों तक इस विषय में जो उत्तम कार्य किया है, उसके लिए उसके सभासदों को धन्यवाद देना चाहिए । प्रारम्भ में यह सभा एक वाद-विवाद की सभा थी जिसे कि लगभग बारह वर्ष हुए, स्कूल के कुछ विद्यार्थियों ने स्थापित किया था और इस बारह वर्ष के थोड़े-से समय में वही छोटी-सी सभा जो कि पहले पहल हिन्दी भाषा की उन्नति के लिए स्थापित हुई थी, आज इतनी बड़ी सभा हो गयी है जिसका कि सुन्दर भवन आप लोग इस शामियाने के बायीं ओर देख रहे हैं ।

"महाशयो, यदि आप सोचें कि सारे भारतवर्ष में एक नागरी लिपि के करने और सारे भारतवर्ष के लिए एक भाषा वैज्ञानिक कोश बनाने में इस सभा ने कितना अच्छा काम किया है तो मुझे विश्वास है कि सारा देश सभा का उस प्रशंसनीय कार्य के लिए ऋणी बनेगा जो वह गत ५ उपयोगी वर्षों में, जिस बीच में कि देश में जातीय उत्साह अधिक उत्पन्न हुआ है, करती रही है।

"सज्जनो, मैं अब हिन्दी वैज्ञानिक कोश के विषय में कुछ कहूँगा, जिसका उल्लेख मिस्टर तिलक ने, जो मेरे विद्या-विषयक गुरु हैं, इस प्रकार किया है कि भारत की अनेक जातियों को एक जातीयता के बन्धन में गठित करने के लिए उन्नति का एक स्पष्ट चिह्न यह है कि समस्त भारतवर्ष की एक भाषा की जाय और यदि इतना न हो सके तो कम-से-कम उनकी विज्ञान-विषयक भाषा अवश्य ही एक होनी चाहिए। सन् १८५४ ई० की शिक्षा-सम्बन्धी राजकीय आज्ञा में, जिसे हम भारतवर्ष में शिक्षा का मैगना चार्टा कह सकते हैं, भारतवासियों को एक बड़ी आशा दिलायी गयी थी कि इस देश के सर्वसाधारण के मध्य यूरोपीय विद्या तथा विज्ञान का प्रचार उनकी मातृभाषा ही द्वारा किया जायगा, किन्तु गत ५० वर्षों के बीच यह वचन अन्य अनेक वचनों की नाईं जो गवर्नमेण्ट ने प्रजावर्ग को दिये, अभाग्यवश अपूर्ण ही रह गया। सरकार अनेक सुभीतों के रहते हुए भी यूरोपीय विद्या को यहाँ की भाषा द्वारा देश में फैलाने के विषय में जो कुछ नहीं कर सकी, उसे यह सभा देशहितैषिता के परम उत्कृष्ट भावों से परिपूर्ण होकर अन्य उद्योगों द्वारा करना चाहती है और यह वैज्ञानिक कोश उस आशय की पूर्ति का एक मुख्य चिह्न है। इस अवसर पर मैं प्रसन्नतापूर्वक घोषित करता हूँ कि वैज्ञानिक कोश की तैयारी के सदुपयोग में सभा को इस प्रान्त की गवर्नमेण्ट तथा बंगाल, पंजाब और मध्य देश की गवर्नमेण्ट की सहायता तथा सहानुभूति प्राप्त हुई है। इस विषय में सभा के परिश्रमों का फल ५ छोटी-छोटी पुस्तकों में, जिसे सभा ने वैज्ञानिक कोश के नाम से प्रकाशित किया है, देख पड़ेगा। यद्यपि ये पुस्तकें संख्या में थोड़ी और आकार से आप लोगों के देखने में क्षीण हैं तथापि उनका मूल्य उनके सोने के बोझ

से भी अधिक है। मेरा यह कथन उन्हीं लोगों को सच्चा जँचेगा, जिन्होंने इस विषय पर कुछ ध्यान दिया है।

"इस समय सारे भारतवर्ष के सम्मुख एक वड़ा प्रश्न यह है कि यूरोप का विज्ञान किस प्रकार गरीबों को उनकी ही भाषा में प्राप्त हो सके। ५० वर्षों तक अंग्रेजी की शिक्षा देकर हमारी गवर्नमेंट कठिनता से १०० में एक भारतवासी को यूरोप के प्रारम्भिक विज्ञान की शिक्षा दे सकी है। इस हिसाव से यदि यूरोप के उपयोगी विज्ञान की शिक्षा ३० करोड़ भारतवासियों को देने का कार्य केवल गवर्नमेंट पर छोड़ा जाय तो मैं समझता हूँ कि यूरोप के विज्ञान की प्राप्ति के लिए यहाँ के लोगों को कई सौ वर्षों की आवश्यकता होगी। यूरोप के विज्ञान के जानने से इस देश के लोगों को जो लाभ होंगे, उसके विषय में मैं यहाँ पर लम्वा-चौड़ा व्याख्यान नहीं देना चाहता। उनसे जो लाभ होंगे, वे आप लोगों को भली-भाँति विदित हैं। आप लोग इस देश में अभी हाल के वहुत से नये उन्नतिशील कार्यालय देखते हैं। हमारे देश-भाइयों को जो नयी शिक्षा दी गयी है, विज्ञान में उन्होंने जो नयी शिक्षा प्राप्त की है, यद्यपि वह वहुत थोड़े अंश में और वड़े स्थूल रूप से दी गयी है तथापि उससे उन्होंने जो थोड़ी-वहुत उन्नति की है, वह भी आप लोगों को विदित है। यदि आप लोग इसे मानते हैं कि विज्ञान की शिक्षा आपके देशवासियों को उनकी बुरी अवस्था और दरिद्रता को दूर करने के लिए एक वड़ी भारी कुंजी है तो आप लोगों का यह पहला कर्तव्य है कि इस शिक्षा को दरिद्र से दरिद्र भारतवासी के घर तक उसकी मातृभाषा के द्वारा पहुँचावें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यहाँ की भाषा में नये वैज्ञानिक शब्दों की आवश्यकता है और वे वैज्ञानिक शब्द ऐसे होने चाहिए जो कि बंगाल, संयुक्त प्रदेश, गुजरात और महाराष्ट्र प्रदेश के लोगों को समान रीति से ग्राह्य हों।

"निस्सन्देह उन सव भाषाओं के लिए, जिनकी उत्पत्ति संस्कृत से हुई है, ऐसे वैज्ञानिक शब्दों का वनाना सहज और सम्भव है, क्योंकि संस्कृत भाषा में बहुत बड़े अर्थ को बहुत थोड़े में प्रगट करने की शक्ति है।

"किसी जाति के सबसे उत्तम विचार उस जाति के केवल वैज्ञानिक मनुष्य के विचार ही हैं। और इस सर्वोत्तम विचार को जाति की साधारण सम्पत्ति वनाने के लिए उसे एक साधारण वैज्ञानिक भाषा में अर्थात् ऐसी भाषा में प्रगट करना चाहिए जिसे कि सारा देश समझ सके।

"प्रथम वक्ता यह दिखला चुके हैं कि जातीय एकता को प्राप्त करने के लिए सारे देश में एक भाषा का करना ही निस्सन्देह सबसे उत्तम मार्ग है। उसके अभाव में पहला उद्योग एक लिपि का और फिर एक वैज्ञानिक शब्दों को करने का होना चाहिए। इन दोनों वातों के लिए यह वहुत उत्तम होगा कि भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लोग अपने सबसे उत्तम प्रतिनिधियों को इन विषयों पर विचार करने के लिए नागरी प्रचारिणी सभा में भेजें जो उनका सदा स्वागत करने के लिए तैयार है।

"मैं समझता हूँ कि सभा ने गत वर्ष दो वार अधिवेशन किये थे जो कि कई सप्ताह तक रहे और उनमें भिन्न-भिन्न प्रान्तों के प्रतिनिधि इस वात को निश्चित करने के लिए बुलाये गये थे कि वैज्ञानिक शब्द किस रीति से किन सिद्धान्तों पर गढ़े जायँ। इन अधिवेशनों में जो उत्तम कार्य हुआ है वह पाँच छोटी-छोटी पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया गया है।

"सज्जनों, हमारी भाषा में वैज्ञानिक शब्दों के गढ़ने का यह विचार आज कुछ एक नई वात नहीं है और न यह विचार भारतवर्ष के केवल कुछ विशेष प्रान्तों में ही परिमित है। भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में जहाँ-कहीं विदेशी विज्ञान को इस देश में प्रचलित करने के चिह्न हमें मिलते हैं वहाँ यह स्पष्ट देख पड़ता है कि नये विचारों को इस देश की भाषा में लाने के लिये संस्कृत का आश्रय लिया गया था। इसके लिये नये संस्कृत के शब्द गढ़े गये थे। उदाहरण के लिये ज्योतिष में राशि के नामों को देखिए—

मेष=The Ram, वृषभ=The Bull, सिंह=The Lion, कन्या=The Virgin, तुला=The Balance, वृश्चिक=The

Scorpion, निस्सन्देह प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में कुछ ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनकी उत्पत्ति विदेशी भाषा से हुई है। परन्तु उनकी संख्या वहुत ही थोड़ी है। महाराष्ट्र देश में १७वीं शताब्दी में महाराष्ट्र राज्य के स्थापित होने के उपरान्त इस राज्य के संस्थापक शिवाजी के सबसे पहले कार्यों में से एक 'राजव्योवहार कोश' की रचना है जिसमें कि महाराष्ट्र लोगों के हित के लिये उस समय महाराष्ट्र देश में जो आवश्यक फारसी के शब्द प्रचलित थे उनका अर्थ मराठी वा संस्कृत भाषा में दिया गया था। इधर हाल के समय में लगभग २० या २५ वर्ष हुए कि ऐसा ही उद्योग बँगाल में भी प्रारम्भ हुआ था, परन्तु कुछ ऐसे कारणों से जो कि मुझे विदित नहीं है वह उद्योग कुसमय में सदा के लिए वन्द हो गया। वड़ौदा में, जहाँ कि इस समय एक वड़े ही सुयोग्य राजा हैं, इस कार्य के लिये अर्थात् मराठी में एक वैज्ञानिक कोश निश्चित करने के लिए एक विशेष विभाग खोला गया था। मुझे विदित हुआ है कि इस कार्य के लिये ३२ हजार रुपया की वड़ी रकम स्वीकृत हुई थी। परन्तु हमारे दुर्भाग्यवश यह विभाग भी कुसमय में वन्द हो गया। अहमदाबाद में भी एक 'गुजराती ट्रान्सलेशन सोसाइटी' है, और महाराष्ट्र में हम लोगों की डेकन वर्नाक्यूलर सोसाइटी है। आप लोगों की आज्ञा से मैं यह उल्लेख करने की आज्ञा माँगता हूँ कि मेरे तुच्छ सम्पादन में डॉक्टर एम० जी० देशमुख, मिस्टर वाल गंगाधर तिलक, प्रोफेसर टी० के० गज्जर, लेफ्टीनेन्ट कर्नल के० आर० कीर्तिकर, सर भालचन्द्र कृष्ण भटवाडेकर, प्रोफेसर आर० एन० आपटे, आदि महानुभावों की नाईं वम्वई के विख्यात विद्वान लोगों की सहायता से एक अंग्रेजी-मराठी कोश महाराष्ट्र देश में निकल रहा है।

"मेरे तुच्छ ग्रन्थ की सहायता और सहानुभूति करने वालों में बम्बई विश्वविद्यालय के वाइस चांसलर डॉक्टर मेकिकन, कोल्हापुर के कर्नल डब्ल्यू बी० फेरिस, कैप्टेन आर० सी० वर्क और कोल्हापुर के रेवरेण्ड ए० डरबी, बम्वई के एलफिन्सटन कालेज के प्रोफेसर ई० ए० उडहाउस और राजाराम कालेज के प्रिन्सिपल लूसी आदि महाशयों के समान लोग भी हैं। मेरे अंग्रेजी-मराठी कोश की

प्रधान विशेषता उसके संस्कृत वैज्ञानिक शब्द हैं। इसी विशेषता के लिये हिन्दी की विख्यात 'सरस्वती' पत्रिका के सम्पादक के प्रमाण पर मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि भारतवर्ष की और किसी भाषा के हित के लिए ऐसे किसी ग्रन्थ के बनाने का उद्योग नहीं किया गया है। मेरे तुच्छ ग्रन्थ की यही विशेषता है जिससे कि दक्षिण महाराष्ट्र देश के अग्रगण्य राजों-महाराजों ने उसका आदर किया है। उनमें से प्रधान ये हैं। अर्थात् कोल्हापुर के महाराज, मुधोल के सरदार और जामखिन्दी के सरदार। मुझे निश्चय है कि यदि सभा के मंत्री सभा पर इन महाराजों की सहानुभूति प्राप्त करेंगे तो उससे सभा के बहुमूल्य विद्याविषयक कार्य में उनकी सहायता मिलनी बहुत सरल होगी।

"सज्जनों, बंगाल, गुजरात और महाराष्ट्र देश के इन प्रयत्नों के उल्लेख करने से मेरा अभिप्राय आप लोगों को यह दिखलाने का था कि ब्रिटिश राज्य के आगमन से इस देश में जो नये वैज्ञानिक विचारों का प्रचार हुआ है उनको प्रगट करने के लिये इस देश की भाषा में वैज्ञानिक शब्द बनाने का प्रबल विचार सारे देश में है।

"मेरी सम्मति में जो ये जुदे-जुदे उद्योग हुए हैं, उन्हें अधिक उत्तम रीति से करना चाहिए। मैं समझता हूँ कि ये सब उद्योग ना० प्र० सभा की प्रबन्धकारिणी सभा के प्रबन्ध में होने चाहिए क्योंकि इस सभा ने इस विषय में विशेष उद्योग किया है। मेरी सम्मति में दूसरे प्रान्तों के जो विद्वान् अपनी भाषा की उन्नति करने और उसे पूर्ण करने में हित लेते हैं उन्हें ना० प्र० सभा में पत्रव्यवहार द्वारा सम्मिलित होना चाहिए। सो यदि यह हो जाय और मैं समझता हूँ कि इसे अवश्य करना चाहिए तो एक संगठित समाज के लाभ प्राप्त हो कर बहुत सा कार्य होगा। मेरी सम्मति में हमारे देश के इतिहास में अब वह समय आ गया है कि किसी एक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये जुदे-जुदे उद्योग न किये जाकर किसी एक समाज के द्वारा मिलकर उद्योग किया जाय। संगठित समाजों का अभाव हमारी जातीय दुर्बलता का कारण है। अतः हमारी जातीय उन्नति

के भविष्यत प्रोग्राम में संगठित समाजों में हमारा प्रधान वल होना चाहिए ।

"इस कारण, हे प्रिय भाइयो, मैं आप सवसे बड़े शुद्ध हृदय से प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग हमारे देश के जितने प्रान्तों में सम्भव हो नागरी अक्षरों के प्रचार में और संस्कृत से उत्पन्न सव भाषाओं के हित के लिये भाषा में वैज्ञानिक शब्दों के निश्चित करने के आवश्यक कार्य में इस सभा को सहायता दें । यहाँ पर जो भाई उपस्थित हैं उनसे मेरी यह प्रार्थना है कि यदि सम्भव हो तो इस सभाभवन में इस वात के विचार करने के लिये एक प्रतिनिधि सभा करें कि इन दोनों उद्देश्यों की उन्नति के लिये क्या उद्योग किया जाय । मुझे निश्चय है कि हमारे वड़े उद्योगी मंत्री वाबू श्यामसुन्दर दास कृपा करके ऐसी एक सभा का प्रवन्ध करेंगे, यदि उन्हें आजकल के अधिक कार्यों से इसके करने का अवकाश मिले ।

"मैं वहुत संक्षेप में कहना चाहता हूँ । सज्जनों, वैठने के पहले मुझे यह उत्कट आशा प्रगट करने दीजिये कि आप सव लोग अपने हृदय से इस सभा के उद्देश्यों में सहानुभूति प्रगट करेंगे । आप लोग चाहे जहाँ रहें और चाहे जो कुछ करें परन्तु इस सभा के हित को अपने हृदय से मत भूलिये ।"

दीवान बहादुर अम्बालाल

दीवान वहादुर अम्वालाल साकरलाल देसाई, एम० ए०, एल-एल० बी० (अहमदावाद) ने, जिनका स्वागत तालिध्वनि द्वारा किया गया, कहा––

"सभापति महाशय तथा सभासद गण, मैं गुजरात से आता हूँ जो कि व्यापारियों की भूमि है अतः मैं अपनी वातों को संक्षेप में कहने में सावधानी रखूँगा ।

"मुझे जो कुछ कहना था उसमें से वहुत-सी वातें हमारे योग्य सभापति और हमारे योग्य महाराष्ट्र विद्वान मिस्टर बी० जी० तिलक

पहले ही कह चुके हैं । इस कारण अब मैं इस विषय की कुछ कार्य में लाने योग्य बातों का वर्णन करूँगा ।

"आजकल हम सब के हृदय में सबसे बड़ी अभिलाषा और सबसे बड़ा उत्साह परस्पर अधिक सम्बन्ध और प्रीति उत्पन्न करने का है । भविष्य में बहुत दिनों के उपरान्त हम सब लोग एक ही बड़ी जाति हो जायँगे अथवा नहीं, इस प्रश्न का निश्चय करना मैं भविष्य ही पर छोड़ता हूँ । परन्तु ऐसे विषयों पर उद्योग करने में कुछ हानि नहीं है, जिससे कि दोनों ही उद्देश्य व उनमें से कोई एक प्राप्त हो सकता है, और इनमें से एक उद्देश्य सब भाषाओं के लिए एक लिपि का करना है ।

"अब इस प्रश्न में दो बातें हैं (अ) लिखने की लिपि और (ब) छापे की लिपि । इस समय लिखने के लिपि का विचार छोड़ देना चाहिए । सौभाग्यवश गुजरात में पहले जो पाठ्य-पुस्तकें थीं उनके पाठ नागरी और गुजराती दोनों ही अक्षरों में छपते थे और इस कारण जिन लोगों ने गुजरात के किसी स्कूल में शिक्षा पायी है वे नागरी अक्षरों को पढ़ सकते हैं ।

"ऐसा सुनने में आता है कि अब जो नई पाठ्य पुस्तकें छपने वाली हैं उनमें नागरी अक्षर के पाठ नहीं रक्खे जायँगे ।

"यदि ऐसा हुआ तो बड़े दुर्भाग्य की बात है । सभा को प्राचीन प्रणाली न उठाये जाने के लिए एक प्रार्थनापत्र भेजना चाहिए । हमारे सभापति महाशय ने यह बहुत ही उत्तम प्रस्ताव किया है कि वास्तविक गुणवाली सब पुस्तकें नागरी अक्षरों में छापी जायँ । मेरी सम्मति में कम से कम सब वैज्ञानिक ग्रन्थ यथा उद्भिद विद्या, रसायन शास्त्र, दर्शन शास्त्र आदि के ग्रन्थ नागरी अक्षर में छपने चाहिए । भाषा उनकी प्रत्येक प्रान्त की जुदी-जुदी हो सकती है परन्तु अक्षर देवनागरी ही होने चाहिए । और ऐसा करने में कोई हानि न होगी । विज्ञान पढ़नेवाले सब लोगों के लिए यह समझ लिया जाय कि वे नागरी अक्षर जानते हैं । यह नागरी अक्षर के

प्रचार वढ़ाने का एक मार्ग है। उसका एक दूसरा मार्ग मेरे ध्यान में यह आता है कि व्यापार सम्वन्धी प्रत्येक विभाग के कागज-पत्र नागरी अक्षरों में रक्खे जायँ। अहमदावाद के व्यापारियों ने ऐसा व्यवहार प्रारम्भ कर दिया है। उन लोगों के जो अढ़तिये कानपुर तथा उत्तरीय भारतवर्ष के अन्य नगरों में हैं, उनसे वे नागरी अक्षरों में पत्र-व्यवहार करते हैं। गुजरात से उत्तरीय भारतवर्ष में यात्रा करते हुए स्टेशनों के जो नाम नागरी अक्षरों में लिखे थे उनसे मुझे वहुत सहायता मिली।

"आजकल वहुत से लोग अपने विज्ञापन स्थानीय समाचार-पत्रों में उर्दू अक्षरों में छपवाना चाहते हैं। उत्तरी भारतवर्ष में लोग चाहे उर्दू पढ़ सकते हों परन्तु यदि वे गुजरात या दक्षिण में अपने विज्ञापन उर्दू अक्षरों में छपवायें तो उन्हें विरला ही कोई पढ़ सकेगा। मैं सब प्रान्त के व्यापारियों को यही सम्मति दूँगा कि वे अपने विज्ञापन नागरी अक्षरों में छपवायें। इससे उनके व्यापार में लाभ होगा क्योंकि नागरी अक्षरों में होने के कारण उनके विज्ञापन के अधिक पढ़े जाने और उनके माल की अधिक बिक्री होने की सम्भावना है। उदाहरण के लिए हम लोग गुजरात में केशरंजन तेल का एक बंगला विज्ञापन नागरी अक्षरों में छपने के कारण पढ़ते ही हैं।

"इसके सिवाय मैं एक और प्रस्ताव करूँगा और वह यह है कि उत्तरी भारतवर्ष से हिन्दी भाषा और नागरी अक्षरों में एक समाचारपत्र निकलना चाहिए।

"हमारे बम्बई में एक ऐसा पत्र अर्थात् वेंकटेश्वर पत्र है और वह बहुत कुछ कार्य कर रहा है। उसे सब श्रेणी के लोग और विशेषतः मारवाड़ी और कच्छी तथा नागरी जानने वाले बहुत से अन्य लोग पढ़ते हैं।

"महाशयों, गुजरात में गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी नाम की एक सभा है जिसके सभापति होने का सौभाग्य मुझे इस वर्ष प्राप्त हुआ है। उस सभा से प्रति वर्ष विज्ञान विषय में सुबोध ग्रन्थ छपते हैं और एक लिपि के विषय में यह सभा जो कुछ प्रस्ताव करेगी उस पर मुझे निश्चय है कि हमारी सोसाइटी वड़े आदरपूर्वक ध्यान देगी।

"महाशयो, बस इतना ही कहकर मैं अपने व्याख्यान को समाप्त करने की आज्ञा मागूँगा।"

सर भालचन्द्र कृष्ण

बम्बई के सर भालचन्द्र कृष्ण ने, जिनका स्वागत तालिध्वनि द्वारा किया गया, कहा—

"सभापति महाशय तथा सभ्यगण, मैं इस अवसर पर नागरी प्रचारिणी सभा को बम्बई की ओर से हृदय से बधाई देता हूँ। उन्होंने गत बारह वर्षों में बहुत अच्छा कार्य किया है और उन्होंने नागरी अक्षरों में जो वैज्ञानिक कोश तथा अन्य ग्रन्थ निकाले हैं वे वास्तव में प्रशंसनीय हैं।

"नागरी लिपि को स्वीकार करने के विषय में जितनी आवश्यक बातें थीं उन्हें हमारे योग्य सभापति और हमारे विद्वान मित्र मिस्टर तिलक और मेरे योग्य मित्र मिस्टर अम्बालाल साकरलाल देसाई और मिस्टर रानाडे आप लोगों से कह चुके हैं।

"मैं समझता हूँ कि हम हिन्दू लोग इस लिपि से बहुत प्राचीन समय से परिचित हैं।

"गत चार हजार वर्षों से हमारे चरक शुश्रुत आदि सब वैज्ञानिक ग्रन्थ और सब धार्मिक ग्रन्थ सदा इसी लिपि में लिखे जाते हैं।

"अब प्रश्न यह है कि हम लोग अपनी पुरानी बातों को भूलकर किसी दूसरी लिपि को ग्रहण करें अथवा अपने पूर्वजों की रीति का अनुकरण करके सारे भारतवर्ष में एक लिपि और एक भाषा का प्रचार करें।

"उस समय भारतवर्ष में एक जाति थी और अब हमारे सब उद्योग भिन्न-भिन्न प्रान्तों के सब लोगों को एक में मिलाने ही के विषय में होने चाहिए।

"कांग्रेस का भी उद्देश्य यही है। अतः हमें कांग्रेस का अनुकरण करना चाहिए और सारे भारतवर्ष में नागरी लिपि का प्रचार करना चाहिए। मैं समझता हूँ कि यह कोई कठिन काम न होगा।

"अव हमें पूर्व व्याख्यानदाताओं के प्रस्तावों के अनुसार अनुभवी मनुष्यों की एक छोटी-सी कमेटी नियत करनी चाहिए जो इस विषय में सव भाँति से विचार करे और मैं समझता हूँ कि हम लोग थोड़े ही समय में हिन्दी को समस्त भारतवर्ष की भाषा और नागरी को उस भाषा के लिखने की लिपि वनाने में कृत्यकार्य होंगे। परन्तु इसके करने में निःसन्देह वहुत-सी कठिनाइयाँ हैं।

"हमारे मद्रास के मित्रों को, जिनमें से हमारे जो मित्र यहाँ उपस्थित हैं, आप लोगों के सामने व्याख्यान देंगे, इसलिए कठिनाई पड़ती है कि उनके अक्षर कुछ भिन्न हैं। उनके अक्षर भिन्न प्रकार से लिखे जाते हैं। परन्तु जैसा कि मिस्टर तिलक ने कहा है, अन्त में उनके ग्रहण करने में कोई कठिनाई न होगी। निःसन्देह भिन्न-भिन्न प्रान्तों में लिखने की भाषा एक होती है और बोलने की भाषा दूसरी। परन्तु मैं समझता हूँ कि विशेषतः लिखने की भाषा में यह उद्योग अवश्य करना चाहिए, और वहुत दृढ़ता से करना चाहिए। मैंने सुना है कि कुछ वर्ष हुए कि नागरी प्रचारिणी सभा ने उस प्रसिद्ध नीतिज्ञ सर एण्टनी मैकडानेल की कृपा से न्यायालय में नागरी लिपि और हिन्दी भाषा के प्रचार का उद्योग किया था। परन्तु अव राज्य वदल गया और अव उस विषय में उतना उत्साह और सहानुभूति नहीं दिखायी देती। परन्तु आप लोग जानते हैं कि यूरोपियन लोग अक्सर केवल वसेरा करनेवाले पक्षियों की नाईं हैं। हम लोग ही भारतवर्ष के वास्तविक निवासी हैं, अतः हमको उद्योग करना चाहिए और हमें निश्चय है कि समय पाकर हमारे उद्योग में सफलता होगी।

"कुछ समय हुआ कि वम्वई में शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर ने हमारी मराठी भाषा की वर्णमाला में परिवर्तन करने का उद्योग किया था। उन्होंने एक छोटी-सी कमेटी नियत की, जिसमें मराठी

पढ़नेवाले सर्वसाधारण की सम्मति लिये बिना, मराठी की लिपि-प्रणाली में परिर्वतन करना निश्चित कर दिया और डाइरेक्टर ने यह आज्ञा दे दी कि नयी पाठ्यपुस्तकें इसी नवीन लिपि-प्रणाली के अनुसार छापी जायँ ।

"हम लोगों ने इस विषय को उठाया और पहले बुक कमेटी के सभापति के पास प्रार्थनापत्र भेजा यद्यपि हम लोग जानते थे कि इससे कोई लाभ न होगा । तब हम लोगों ने शिक्षा विभाग के डाइरेक्टर से प्रार्थना की, पर वहाँ से भी वही उत्तर मिला । फिर हम लोगों ने एक प्रार्थनापत्र तैयार करके बम्वई के गवर्नमेण्ट के पास भेजा । उसमें हम लोगों ने यह दिखलाया कि यह केवल भाषा का ही विषय नहीं है, वरन् यह राजनैतिक विषय है और मराठी भाषा की लिपि-प्रणाली के विषय में जैसा कुछ किया गया है, यदि वैसा रह गया तो भाषा में पूरी तरह से उलट-फेर हो जायेगा और वह एक बड़े असंतोष का कारण होगा । वहाँ इस विषय पर अधिक बुद्धिमानी से विचार किया गया और आप लोगों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि गवर्नमेण्ट ने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर ली ।

"मैं इस सभा को भी इसी उपाय का अवलम्बन करके, यहाँ और अन्यत्र, इस विषय में गवर्नमेण्ट से प्रार्थना करने की सम्मति दूँगा और मुझे विश्वास है कि आप लोग निःसन्देह गवर्नमेण्ट की सहानुभूति प्राप्त करेंगे और अपने उद्योग में कृतकार्य होंगे । और मेरी सम्मति में यह बहुत उत्तम होगा कि उसी भाषा में हमारे वैज्ञानिक ग्रन्थ भी बनें ।

"धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थों के विषय में बहुत से ग्रन्थ, जैसे तुलसीदास की रामायण आदि जिन्हें सब लोग सत्कार और पूजा की दृष्टि से देखते हैं, इस भाषा में वर्तमान हैं ।

"उस बड़ी भाषा को, जिसने कि मराठी और समस्त हिन्दू जाति का चित्त आर्कषित कर लिया है, रक्षित रखना चाहिए । उसे रक्षित रखकर सारे भारतवर्ष की भाषा बनाने का उद्योग करना

चाहिए और मुझे आशा है कि इसमें नागरी प्रचारिणी सभा की एक दिन सफलता होगी। इन्हीं थोड़ी-सी वातों को कहकर सभा को हृदय से धन्यवाद देता हूँ कि उसने मुझे इस आवश्यक विषय पर अपने विचार प्रकट करने का अवसर दिया।"

क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद

कलकत्ते के प्रोफेसर क्षीरोद प्रसाद विद्याविनोद, एम० ए० ने, जिनका स्वागत तालिध्वनि द्वारा किया गया, कहा—

"महाशयो, यदि मैं आज आप लोगों के सम्मुख अपनी ही भाषा में व्याख्यान देने का उद्योग करूँ तो मुझे भय है कि बहुत-से लोग मेरी बातें नहीं समझ सकेंगे। परन्तु मुझे आशा है कि एक दिन अवश्य ऐसा आवेगा जब अपने ही देशवासियों के सम्मुख व्याख्यान देने में किसी विदेशी भाषा का आश्रय लेने की आवश्यकता न पड़ेगी। यद्यपि हम लोग एक विदेशी भाषा का अर्थात् अंग्रेजी भाषा के अनुग्रहीत हैं, क्योंकि उससे आजकल भारतवर्ष के बड़े-वड़े बुद्धिमानों में एका होने में सहायता मिली है। फिर भी हमें सारे देश के लोगों में एका उत्पन्न करने के लिए किसी एक भाषा की आवश्यकता है। इस प्रकार का एका हम लोगों में वैदिक काल में था, परन्तु अब वह नहीं रहा है। और हम लोग उसे एक बार पुनः प्राप्त करने का उद्योग करते रहे हैं। परन्तु यह कैसे किया जायेगा ?

"अभी यह वात निःसन्देह स्वप्नवत् जान पड़ती होगी, परन्तु यही स्वप्न मैंने वर्षों तक देखा है और जब मैं अपने योग्य सभापति के सदृश महानुभावों को माननीय मिस्टर जस्टिस मित्र, मिस्टर तिलक और पण्डित मदन मोहन मालवीय सदृश लोगों को सारे भारतवर्ष के लिए एक लिपि का उद्योग करते हुए देखता हूँ तो मुझे इस स्वप्न के सत्य होने की आशा होती है।

"महाशयो, जिस उद्देश्य को हम लोग प्राप्त किया चाहते हैं, उसकी पहली सीढ़ी सारे भारतवर्ष में एक लिपि का करना ही है। भारतवर्ष की भिन्न-भिन्न आर्य भाषाओं के परस्पर के भेद इतने थोड़े

हैं और उनमें इतनी अधिक समानता है कि यह देखकर आश्चर्य होता है कि इस समय एक प्रान्त के लोगों ने दूसरे प्रान्त की भाषाओं को सीखने का उद्योग नहीं किया। इसका कारण मेरी सम्मति में भिन्न-भिन्न प्रान्तों की लिपियों का भिन्न होना ही है। भिन्न लिपि पाठकों को कठिनता में डाल देती है और इसी कारण से वे उस भाषा को सीखने का वास्तविक उद्योग नहीं करते। परन्तु यदि वे एक बार इस कठिनाई को दूर कर दें तो उन्हें यह देखकर आश्चर्य होगा कि पहले उन्हें जो भाषा विदेशी जान पड़ती थी, वह वास्तव में उनकी मातृभाषा की बहन ही है। सज्जनगण, मुझे विश्वास है, बंगाली साधु भाषा में लिखी हुई किसी पुस्तक के सौ शब्दों में से पचहत्तर शब्द विना किसी की सहायता के शिक्षित महाराष्ट्री व पंजाबी की समझ में आ जायेंगे। संयुक्त प्रदेश के लोगों का तो कहना ही क्या है! शेष पचीस शब्दों के, जिनमें मुख्यतः कोई-न-कोई व्याकरण की विशेषता होगी, जानने में कोई वड़ी दूसरी कठिनता न होगी, क्योंकि भारतवर्ष की एक भाषा के व्याकरण से दूसरी भाषा के व्याकरण में बहुत अन्तर नहीं है।

"मैं यहाँ पर अपने ही एक ग्रन्थ से एक वा दो वाक्य उद्धृत करता हूँ :—'यमुनाजल सम्पूर्णा अमृतरूपिनी भागीरथी यार कण्ठहार, चिरतुषारधवलित हिमाचल यार शिरोभूषण चिरश्यामलशस्यसम्पद यार अइगां वरण एक निविड़ कृष्ण कान्ति वनश्रीते यिनि कुटिल कुन्तला अनन्त प्रसारीनीलाम्बुराशिर शुभ्र तरंग फेन रेखा यार मेखला, से बंगेर किसेर अभाव घण्डीवर यार जले स्वर्ण फले सुषा, शस्ये अनन्त देशेर अनन्त जीवेर प्राणदायिनि शक्ति, यार ललाट शशि सूर्य करोज्ज्वल यार प्रभाव मुधुगन्ध कुसुम शीकरवाही से बंगेर जन्य आवार धनरन्त भिक्षाकेन'। यहाँ पर बहुत से ऐसे सज्जन उपस्थित हैं कि जिन्होंने कदाचित् कभी कोई बँगला पुस्तक नहीं पढ़ी है। मेरी उनसे प्रार्थना है कि वे कृपा कर देखें कि उपरोक्त वाक्यों का कितना-कुछ अंश उनकी समझ में स्वयं आ जाता है। वे लोग देखेंगे कि एकाध दो सर्वनाम और कुछ विभक्तियों को छोड़कर उसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जो उनकी समझ में न आ सके।

"हमारे सुयोग्य सभापति ने बँगला में वहुत ही उत्तम पुस्तक लिखी है और वे बँगला में ग्रन्थ-रचना के लिए उतने ही प्रसिद्ध हैं जितने कि राजनीति के लिए, परन्तु सज्जनगण उनके ग्रन्थ जो भिन्न लिपि में लिखे जाते हैं उसके कारण बँगला न जाननेवाले किसी मनुष्य ने उन्हें समझने का कोई उद्योग नहीं किया। इस वात से यह स्पष्ट है कि समस्त भारतवर्ष के लिए एक लिपि का होना कितना आवश्यक है।

"हम लोगों की बँगला लिपि नागरी लिपि से अधिक प्राचीन है, परन्तु देवनागरी अक्षरों को सारे भारतवर्ष के लिए एक लिपि वनाने का जो उद्योग किया जाता है उससे हमें किसी प्रकार दुःख नहीं होता, क्योंकि हमारी जातीय उन्नति हमारी भाषा की एकता पर निर्भर है और भाषा की एकता हमारी लिपि की एकता पर ही निर्भर है।

"सज्जनो, वस इतना ही कहकर मैं आप लोगों से आज्ञा लेता हूँ।"

राघवाचार्य

सलेम के मिस्टर राघवाचार्य, बी० ए० ने, जिनका स्वागत तालिध्वनि द्वारा किया गया, कहा--

"सभापति महाशय तथा सज्जनगण, आप लोगों की आज्ञा लेकर मैं एक प्रस्ताव करने का साहस करूँगा। इस सभा के उद्देश्य ज़ातीय भलाई से सम्बन्ध रखते हैं। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आज जो यहाँ पर वक्तृताएँ हुई हैं उन्होंने इस उद्देश्य को परिमित कर दिया है और मुझे यही दुख है। मैं समझता हूँ कि आप लोगों का उद्देश्य सारे भारतवर्ष की भाषाओं के लिए एक लिपि करने का है, परन्तु जान पड़ता है कि आज के व्याख्यान देने वालों ने आपके इस उद्देश्य को उत्तरी और पश्चिमी भारतवर्ष की भाषाओं के लिए ही परिमित रखा है। मैं समझता हूँ कि यह विचार ठीक नहीं है। मेरी समझ में यदि उत्तरी और पश्चिमी भारतवर्ष की भाषाओं के लिए एक

लिपि का होना संभव है तो इसी प्रस्ताव को बढ़ाकर इसमें दक्षिणी भारतवर्ष और लंका की भी भाषाओं को सम्मिलित कर लेना बहुत कठिन नहीं होगा। इस संबंध में इस प्रस्ताव पर भी विचार कर लेना चाहिए कि यदि हम लोग एक भाषा और उसके लिए पहले-पहल एक लिपि करना चाहते हैं तो वह लिपि यूरोप की क्यों न हो। मुझे कदापि यह दिखलाने की आवश्यकता न होगी कि यह प्रस्ताव बिल्कुल असंभव है। यदि भारतवर्ष जैसे बड़े देश में किसी समय एक भाषा हो सकती है तो वह यूरोप की कोई भाषा नहीं हो सकती। हमारे श्राद्ध तथा हमारी अन्य धार्मिक क्रियाओं के लिए कभी कोई यूरोप की भाषा नहीं हो सकेगी। हमारे मज़दूर आदि अपने कठिन परिश्रम का रोना कभी किसी यूरोप की भाषा में नहीं रो सकेंगे। किसी यूरोप की भाषा में भारतवर्ष के विचार और वेदान्त पूरी तरह यथार्थ रीति से नहीं प्रगट किये जा सकते हैं। तब यदि सारे भारतवर्ष के शिक्षित और अशिक्षित, ऊँच और नीच सभी लोगों के लिए एक भाषा का होना संभव है, तो वह भारतवर्ष की ही भाषा है। और संभवतः वह हिन्दी ही होगी। भारतवर्ष की सब बोल-चाल की भाषाओं के स्थान पर एक भाषा करने के लिए मेरी समझ में हिन्दी सबसे उपयुक्त है। इसी भाषा को भारतवर्ष में अधिकांश लोग समझते हैं और वह उर्दू तथा अन्य कई भाषाओं से बहुत कुछ मिलती-जुलती है और संस्कृत के साथ जो उसका घनिष्ठ संबंध है उससे यह निश्चय है कि प्रचार बढ़ाने के लिए वही सबसे उत्तम और विज्ञान तथा आजकल की अन्य आवश्यकताओं के लिए वही सबसे अधिक उपयुक्त है। और यह उचित ही है कि हमें ऐसा यत्न करना चाहिए कि वह हिन्दी जिस लिपि में लिखी जाती है वही सारे भारतवर्ष की लिपि बनायी जाय। यूरोप की लिपि से, जो कि एकबारगी दोष से भरी हुई है, हम लोगों का कार्य नहीं चलेगा। भारतवर्ष की मुख्य-मुख्य लिपियों की विशेषता यह है कि उनमें प्रत्येक उच्चारण के लिए एक ही अक्षर और प्रत्येक अक्षर के लिए एक ही उच्चारण है परन्तु क्या हमें निश्चय है कि देवनागरी अक्षरों में कुछ भी दोष नहीं है। निःसन्देह प्रत्येक बालक की माता अपने बालक को संसार में सबसे सुन्दर समझती है चाहे वह कैसा ही कुरूप

क्यों न हो। यदि हम पक्षपातरहित होकर देवनागरी लिपि की जाँच करें तो संभवतः हमें विदित होगा कि इसमें कुछ सुधार की आवश्यकता है। यहाँ कई वर्ष हुए कि सर एण्टनी मैकडानेल के समय में न्यायालय तथा दफ्तरों में उर्दू के साथ-साथ हिन्दी के प्रचार के विषय में जो विरोध हुआ था वह सब लोगों को विदित है। उसका एक कारण यह बतलाया गया था कि देवनागरी अक्षरों को लिखने में बहुत समय लगता है। मैं समझता हूँ कि इस बात का उत्तर अभी तक नहीं दिया गया। और न देवनागरी लिपि देखने ही में सबसे सुन्दर है। वह कोनों तथा आड़ी और बेड़ी लकीरों से भरी हुई है। यदि हम देवनागरी लिपि की सुन्दर गोल मटोल तेलगू लिपि के सामने रख कर देखें तो मेरे कथन की सत्यता आप लोगों को विदित हो जायगी।

"मेरा प्रस्ताव है कि कुछ योग्य मनुष्यों की एक छोटी-सी कमेटी नियत की जाय जो कि देवनागरी लिपि को सरल और यदि सम्भव हो तो सुन्दर भी बनाने के विषय में विचार करे। फिर यह संशोधित लिपि अन्त में धीरे-धीरे सारे भारतवर्ष और लंका में प्रचलित हो जायगी। दक्षिणी भारतवर्ष तथा लंका में पाँच भाषाएँ हैं अर्थात् तमिल, तेलुगु, कनारी, मलयालम और सिंघाली। इनमें से अन्तिम चारों भाषाओं के लिये संशोधित देवनागरी के अक्षर बहुत सुगमता से काम में लाये जा सकते हैं। सिंघाली भाषा हिन्दी की नाईं संस्कृत की एक शाखा समझी जाती है और तेलुगु, कनारी तथा मलयालम यद्यपि द्रविड़ भाषाएँ हैं तथापि उन पर आर्य लोगों और संस्कृत भाषा का इतना प्रभाव पड़ा है कि वे आर्य-द्रविड़ भाषा कही जा सकती हैं। केवल शुद्ध तमिल भाषा में ही हिन्दी भाषा के कुछ अक्षर नहीं हैं और उनमें कुछ अक्षर ऐसे हैं जो कि हिन्दी भाषा में नहीं हैं। इस भाषा के लिये भी नागरी लिपि, जहाँ तक उसे व्यवहार करना सम्भव है, व्यवहार की जा सकती है। इसलिये मैं इस बात पर जोर दूँगा कि सभा देवनागरी लिपि को सुधारने और सुगम बनाने के विषय में विचार करे। यद्यपि इस प्रस्ताव को स्वीकार करने से हिन्दी बोलनेवाले लोगों को कुछ सांकल्पिक विरोध होगा परन्तु इससे उसके

सारे देश में प्रचलित होने में जो सांकलिपक विरोध है वह बहुत कम हो जायगा ।

"सज्जनो, बस इतना ही कह कर अब मैं आप लोगों से आज्ञा माँगूगा ।"

रमेशचन्द्र दत्त

सभापति मिस्टर रमेशचन्द्र दत्त ने उस दिन के अधिवेशन का कार्य समाप्त करते हुए कहा——

"सज्जनगण, हममें से वहुतों को अभी दो ही घंटे में एक दूसरे वड़े अधिवेशन में उपस्थित होना है । अतः मैं समझता हूँ कि यदि मैं अपने विचारों को जहाँ तक सम्भव हो थोड़े में प्रगट कर दूँ तो इसके लिये आप लोग मुझे धन्यवाद देंगे ।

"आज के व्याख्यानदाताओं से हम लोगों ने बड़े उपयोगी प्रस्ताव सुने हैं । उनके विषय में मैं कुछ कह कर आज का काम समाप्त करूँगा ।

"मिस्टर तिलक ने देवनागरी लिपि का उल्लेख किया है और उन्होंने आप लोगों से जो कुछ कहा है वह ऐतिहासिक रीति पर ठीक है । देवनागरी भारतवर्ष की सबसे प्राचीन लिपि नहीं है । यहाँ की सबसे प्राचीन लिपि जिसके विषय में हम लोगों को कुछ ज्ञात है, वह है जो कि अशोक के खुदवाये हुए लेखों में देखी जाती है । आजकल की छपी हुई पुस्तकों में हम देवनागरी लिपि को जिस रूप में देखते हैं वह अशोक की लिपि का ही रूपान्तर है । मैं इस प्रश्न को नहीं उठाना चाहता कि अशोक की लिपि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई । यह प्रश्न आज के विषय के बाहर होगा । मिस्टर तिलक ने यह एक बड़ा अच्छा प्रस्ताव किया है कि नागरी लिपि को धीरे-धीरे स्कूली पुस्तकों में प्रचलित करना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो अन्य भाँति से भी उसके प्रचार का उद्योग करना

चाहिए । बहुत-सी स्कूली किताबें हमारे ही छापेखानों में छपती हैं और मुझे विश्वास है कि यदि हम उनमें धीरे-धीरे नागरी लिपि का प्रवेश करें तो वे स्कूल की पाठ्य-पुस्तकों से निकाल नहीं दी जायँगी। फिर उन्होंने कुछ अनुभवी मनुष्यों की कमेटी द्वारा एक सर्वमान्य लिपि स्थिर करने के लिये कहा है । सज्जनों, मेरा तो यह विश्वास है कि सर्वमान्य लिपि आप से आप हो जायगी । यदि हम लोग हिन्दी अक्षरों के व्यवहार करने का संकल्प कर लें तो लिखते-लिखते एक ऐसी लिपि स्वयं ही बन जायगी जो कि लिखने में सुगम होगी । अनुभवी मनुष्यों की कमेटी यदि बैठ कर इस लिपि को सुधारे तो उसको लिखने में सुगम बनाने में उसकी आधी भी सफलता न होगी जितना कि लोगों के लिखते-लिखते आप ही एक लिपि बन जाने से होगी । जब समस्त भारतवासी देवनागरी लिपि को लिखने लग जायँगे तो समय पाकर उसका एक ऐसा रूप बन जायगा जो कि आजकल की छापे की देवनागरी की अपेक्षा लिखने में कहीं सुगम होगा । मैं यह बात स्वयं अपने अनुभव से कहता हूँ । मुझे जब संस्कृत लिखने की आवश्यकता पड़ती थी तो मैं उसे नागरी अक्षरों में लिखा करता था और नागरी अक्षर छापे के अक्षरों की अपेक्षा लिखने में बहुत सुगम होते थे । अतः मुझे इस बात पर बहुत ही अधिक विश्वास है ।

"प्रोफेसर रानाडे ने वैज्ञानिक शब्दों को स्थिर करने के विषय में इस सभा ने जो उत्तम कार्य किया है उसका वर्णन किया है और इसके पहले भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इस विषय में जो उद्योग हुआ है उसका भी उल्लेख किया है। मेरा सम्बन्ध बंगाल की साहित्य परिषद् से बहुत वर्षों तक रहा है, और उस परिषद् का भी एक उद्देश्य वैज्ञानिक कोश बनाने का था। उस परिषद् ने इस विषय में बहुत अच्छा कार्य किया है, और इस सभा ने भी बहुत अच्छा काम किया है, जैसा कि इस कोश के पाँच प्रकाशित भागों से स्पष्ट है । मैं इन पुस्तकों को एक बार उड़ती नजर से देख सका हूँ और मुझे विश्वास है कि उनमें बहुत से शब्द बहुत ही उत्तम चुने गये हैं और वे केवल हिन्दी बोलने वालों के ही लिये नहीं वरन्

सारे भारतवर्ष के लिये उपयोगी होंगे। मैं बड़ी उत्कंठा से यह आशा करता हूँ कि यह कार्य शीघ्र समाप्त हो जाय।

"दीवान बहादुर अम्बालाल ने कहा है कि उपन्यास और सर्वप्रिय ग्रन्थों के सिवाय विज्ञान के सब ग्रन्थ भी नागरी अक्षरों में छपने चाहिए। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आप सब लोग इस प्रस्ताव को ठीक समझते होंगे और जहाँ तक सम्भव हो आजकल के बहुत से वैज्ञानिक ग्रन्थ नागरी अक्षर में छापे जा सकते हैं। उन्होंने यह भी एक बड़ा अच्छा प्रस्ताव किया है कि सब विज्ञापन देवनागरी अक्षरों में छपवाने चाहिए, फारसी अक्षरों में नहीं। सज्जनों, इसमें कोई सन्देह नहीं कि विज्ञापन का देवनागरी अक्षरों में छपवाना भी भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों में नागरी अक्षरों के प्रचार करने का एक मार्ग है। मुझे उनके इस कथन से बड़ा आश्चर्य हुआ कि बनारस से नागरी अक्षरों में हिन्दी का कोई अच्छा पत्र नहीं निकलता। भारतवर्ष के इस भाग में एक अच्छा हिन्दी का पत्र अवश्य होना चाहिए और जितनी ही जल्दी ऐसे पत्र के निकालने का प्रबन्ध हो सके उतना ही अच्छा है।

"सर भालचन्द्र कृष्ण ने नागरी अक्षरों को व्यवहार करने के बहुत अच्छे प्रमाण बतलाये हैं और दक्षिण में मराठी लिपि में परिवर्तन करने का जो उद्योग किया गया था उसका उन्होंने बहुत हास्यजनक वृत्तान्त वर्णन किया है। यदि मुझे समय होता तो मैं आपको इससे भी अधिक हास्यजनक वृत्तान्त समस्त बंगाल को एक भाषा के द्वारा संयुक्त करने का नहीं वरन् उसके चारों विभागों की भाषाओं को अलग-अलग करने के विषय में सुनाता। सज्जनो, यह भाषा के विचार से बंगाल का विभाग किया गया। उच्च कर्मचारियों ने यह सोचा कि बंगाल के भिन्न-भिन्न विभागों में लोग जो भाषाएँ बोलते हैं वे एक दूसरे से भिन्न हैं और वे उनमें से प्रत्येक भाग की भाषा को एक स्थिर रूप में कर देना चाहते थे। आप लोगों में से जो महाशय इंग्लैंड का वृत्तान्त जानते हैं उन्हें विदित होगा कि यह बात वहाँ बिल्कुल उल्टी हुई है। स्काटलैंड के हाईलैण्डर लोग और पश्चिमी आयरलैण्ड के निवासी अब तक भी गैलिक भाषाएँ बोलते हैं।

परन्तु वहाँ पर ब्रिटिश गवर्नमेन्ट का यह उद्योग है कि उस राज्य के दूर के देशों में भी अंग्रेजी भाषा का प्रचार हो जाय जिसमें इस देश के समस्त लोगों में एका उत्पन्न हो। वहाँ भिन्न प्रान्तों के लिये भिन्न-भिन्न भाषाएँ स्थिर करने का उद्योग नहीं किया जाता। इसके विपरीत अंग्रेजी में प्रारम्भिक शिक्षा को फैलाने के लिये उद्योग किया जाता है जिसमें सव लोगों की भाषा एक हो जाय। फिर सज्जनो, मेरी समझ में नहीं आता कि यहाँ पर कर्मचारियों ने जो बंगाल में चार भाषाएँ जुदी-जुदी करने का यत्न किया है उसका क्या कारण है।

"प्रोफेसर क्षीरोद प्रसाद और अन्तिम व्याख्यानदाता दोनों ही ने सारे भारतवर्ष में एक भाषा करने के लिए हमें जो उद्योग करना चाहिए उसके विषय में बहुत उत्तम वक्तृताएँ दी हैं। मुझे भी उन्हीं की नाईं आशा है। यदि हम लोग भी एक ही लिपि का लिखना आरम्भ कर दें और एक ही वैज्ञानिक परिभाषा से परिचित हो जायँ तो बहुत है, वरन् इतना ही हम कुछ समय में होने की आशा कर सकते हैं। वह समय अभी बहुत दूर है जब कि सारे भारतवर्ष के लोग एक ही भाषा बोलने लगेंगे।

"सज्जनो, हम लोग इस अधिवेशन के लिये इस सभा के बहुत ही अनुग्रहीत हैं और मैं सच्चे हृदय से यह विश्वास करता हूँ कि सभा ने जो उत्तम कार्य उठाया है उसमें प्रति वर्ष सफलता होती जायगी और अन्त में उसका वृहद् उद्देश्य पूर्ण हो जायगा।"

रेवेरेण्ड ग्रीव्ज़

रेवेरेण्ड ई० ग्रीव्ज़ (नागरी प्रचारिणी सभा के उपसभापति) ने सभापति और व्याख्यानदाताओं को धन्यवाद दिये जाने का प्रस्ताव करते हुए कहा :

"महाशय, आपको तथा इन वक्ताओं को जो कि बहुत दूर-दूर से हमारे साथ इस वड़े कार्य में सहानुभूति दिखलाने के लिये आये

हैं धन्यवाद देने का सौभाग्य नागरी प्रचारिणी सभा के उपसभापति होने के कारण मुझे प्राप्त है।

"अब इस समय अपने विचारों को विस्तृत रूप से वर्णन करने का अवसर नहीं रह गया है परन्तु मुझे आशा है कि जो लोग मुझे बनारस में जानते हैं उन्हें यह विदित होगा कि मैं उन सब कार्यों में कितनी अधिक सहानुभूति रखता हूँ जो कि लोगों में एका उत्पन्न करने के लिये किये जाते हैं।

"मैं भारतवर्ष में बहुत वर्षों तक रहा हूँ और वे सब वर्ष मैंने बनारस डिवीजन में और अधिकतर काशी के नगर में व्यतीत किये हैं और मुझे ऐसे किसी कार्य में सम्मिलित होने में बड़ी ही प्रसन्नता प्राप्त होती है जिससे कि केवल भिन्न-भिन्न प्रान्त के भारतवासियों में ही नहीं वरन् भारतवासियों और अंग्रेजों में भी एका उत्पन्न हो। किस प्रकार इस उद्देश्य की पूर्ति की जा सकती है यह प्रश्न केवल बड़ा कठिन ही नहीं वरन् सम्भवतः अभी तक हमारी समझ के बाहर है। परन्तु महाशय यह सभा जो उपयोगी कार्य कर रही है वह आप पर विदित है और आपने उसे कृपाकर अपनाया है।

"भाषा की एकता के विषय में आपने इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड और वेल्स का उल्लेख किया है कि स्काटलैण्ड और वेल्स की भाषाएँ किस प्रकार अंग्रेजी भाषा को अपना स्थान दे रही हैं। कार्नवाल इसका एक दूसरा उदाहरण है। कार्नवाल की एक जुदी ही भाषा थी परन्तु मेरी स्त्री की, जो कि कार्नवाल की रहनेवाली है, होश में ही कार्नवाल भाषा का अन्तिम बोलनेवाला मर गया।

"अब कार्नवाल की भाषा मृत हो गई है और गैलिक और वेल्स भाषाएँ भी मृतप्रायः हो रही हैं और उनकी मृत्यु पर किसी को दुःख नहीं होता। भाषाएँ मरती ही हैं और उनकी मृत्यु पर हमें आँसू बहाने की आवश्यकता नहीं है वरन् हमें प्रसन्न होना चाहिए।

"सारे भारतवर्ष की एक भाषा हो जायगी अथवा नहीं और यदि हो जायगी तो वह कौन-सी भाषा होगी, इस भविष्यतवाणी के करने का साहस मैं नहीं कर सकता और यदि ऐसा होना है तो सम्भव है कि वह उन मार्गों के द्वारा हो जाय कि जिनके द्वारा आपके कथनानुसार हम उद्योग नहीं कर रहे हैं। कभी-कभी डाक्टर लोग किसी रोग की चिकित्सा करने के लिये मिलकर उपाय सोचते हैं और जब कि उस विषय में उनकी बुद्धि नहीं काम करती तो उधर रोगी स्वयं ही अच्छा होने लगता है। क्या यही बात हमारे विषय में नहीं हो सकती ? क्या यह सत्य नहीं है कि जब कि हम लोग एक भाषा होने का केवल उपाय ही सोच रहे हैं तो इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने इस विषय को बहुत कुछ निश्चित कर दिया है ? उसने एक भाषा की नींव डाल दी है। परन्तु उससे आप यह न समझिए कि मैं भारतवर्ष की एक भाषा के लिये अंग्रेजी भाषा का पक्ष कर रहा हूँ चाहे इस भाषा में कितने ही लाभ क्यों न हों। मैं स्वयं हिन्दी का पक्षपाती हूँ और मैं नागरी अक्षरों को बहुत उत्तम समझता हूँ और यदि सारे भारतवर्ष के लिये एक हिन्दी भाषा हो जाय तो मैं उसका प्रसन्नता से स्वागत करूँगा। सज्जनो, मैं अपने सभापति तथा उन महाशयों के लिये बड़े शुद्ध हृदय से धन्यवाद का प्रस्ताव करता हूँ जिन्होंने आज हम लोगों के सामने व्याख्यान दिये हैं।"

तृतीय हिन्दी विश्व सम्मेलन

की

सफलता के लिए

अनेक शुभ कामनाओं

सहित

मोहन मीकिन लिमिटेड

(सन् १८५५ में स्थापित)

मोहन नगर (गाज़ियाबाद)
लखनऊ (उत्तर प्रदेश)
कसौली (हिमाचल प्रदेश)
सोलन (शिमला क्षेत्र)